प्रेरिका

: प्रकाशक :
संघमित्रा सेवा प्रतिष्ठान
सेविका प्रकाशन
देवी अहल्या मंदिर, धंतोली
नागपूर – ४४० ०१२
□□: २४४२०९७

: मुद्रक :
एम प्रिन्टस्
१९०, डॉ. मुंजे मार्ग, धंतोली
नागपूर – ४४० ०१२
□□: ९४२२८१५५५८

प्रथम संस्करण	:	विजया दशमी, युगाब्द ५०९८
द्वितीय संस्करण	:	अक्षय तृतीया, युगाब्द ५१०२
तृतीय संस्करण	:	आद्य शंकराचार्य जयंती, युगाब्द ५११४

।। ॐ ।।

मन की बात

राष्ट्र सेविका समिति की प्रार्थना में हम नित्य कहते हैं –

पितापुत्रभ्रातृंश्च भर्तारमेवम
सुमार्गं प्रति प्रेरयन्तीमिह।।

पिता पुत्र भाई, तथा पति को हम सुमार्ग पर चलने की प्रेरणा दे सकें ऐसी शक्ति हमें दो।

ऐसा कहा जाता है कि हर यशस्वी पुरूष के पीछे एक महिला अवश्य होती है। स्त्री कन्या–भगिनी–पत्नी और माता ये चारों भूमिकाएँ कुशलता से निभाती है तो जीवन समृद्ध बनता है – उसका स्वय का और घर परिवार का भी। स्त्री हमेशा सतर्क रहती है। ध्येय से डगमगानेवाले व्यक्ति को फिर से धर्ममार्ग पर लाने का काम उसका ही है। जब जब उसने इस भूमिका को अच्छी तरह से निभाया, इतिहास का चेहरा ही बदल गया है। ऐसे ही कुछ प्रसंगों का वर्णन इस पुस्तिका में हैं।

इस तृतीय संस्करण का भी स्वागत सुधी पाठकगण करेंगे यह विश्वास है।

– संपादिका

मिगार माता विशाखा

माँ ने पुत्र को प्रेरणा देना, पत्नी ने संसार रथ की बागडोर संभालते हुए पति को निरंतर कर्तव्य पथ पर ले जाना, यह सामान्य सी बात लगती है। इतिहास के पन्ने पलटते जाओ तो ऐसे कई नारीरत्नों का हमें दर्शन होता है, उनके तेज से हमारी आँखें चकाचौंध हो जाती हैं।

कन्या, हमारी बेटी, आयु से छोटी होती है। उसके लालन–पालन, शिक्षा–दीक्षा का दायित्व माँ पिता पर होता है। परंतु 'बालादपि सुभाषितं ग्राह्यम्' इस न्याय से बच्चे भी बडों का पथदर्शन कर जाते है।

मिगार माता विशाखा का चरित्र अद्‌भुत है। अपने ससुर जी को सन्मार्ग दिखाने का काम उसने बडी सहजता से किया। विशाखा के शुद्ध सात्विक भाव, उसका बुद्धिचातुर्य, उसकी सेवावृत्ति ने बहू होते हुए भी, ससुर जी ने उसे माँ की उपाधि दो। और इतिहास में वह ससुर की माँ अर्थात् 'मिगार माता' विशाखा के नाम से प्रसिद्ध हुई।

श्रावस्ती से कुछ दूरी पर एक नगरी थी 'साकेत'। स्वर्ग सी सुंदर। वहाँ एक करोडपति रहता था, धनंजय सेठजी। सेठजी की कन्या विशाखा सुंदर तो थी ही, परंतु मन, बुद्धि के अनुपम सादर्य से उसका सौंदर्य और भी निखर उठता था। विशाखा का विवाह श्रावस्ती के सेठ मिगार के पुत्र पुष्पवर्धन के साथ हुआ। विशाखा के पिता ने विवाह के समय आठ कुलीन ब्राह्मणों को बुलाकर मिगारसेठ के समक्ष उन्हें कहा कि 'मेरी कन्या में यदि कोई दोष दिखाई दिया तो आप लोग उसका निराकरण करेंगें।'

विशाखा श्रावस्ती में अपने श्वसुर गृह में रहती थी। धीरे धीरे घर के रीतिरिवाजों से अभ्यस्त हो गयी। दोनों घरों की विचारधारा में अन्तर था।

एक दिन मिगार भोजन कर रहे थे। विशाखा भोजन परोस रही थी। पंखा झल रही थी। इतने में एक बाद्ध भिक्षु भिक्षा हेतु उपस्थित हुए। विशाखा को तो पता था, अपने ससुर जी भिक्षा में कुछ देंगे नही। उसने पंखा झलते झलते हुएं ही बताया 'आर्य! मेरे ससुर जी इस समय बासा भोजन कर रहें है। आप यहाँसे आगे बढियें।'

पुत्रवधू की उस बात से मिगार सेठ नाराज हुएं। उन्होंने कहा, 'यह लडकी मेरा अपमान करती है। उसे उसी समय घर से निकाल दो।'

विशाखा इस बात से तनिक भी विचलित नहीं हुई। अपनी तेजस्विता का परिचय देते हुए बडे शान्त भाव से उसने कहा 'आप इतने क्यों रुष्ट हुएं? घर से आप मुझे कैसे निकाल देंगे? मै कोई वेतनभोगी दासी नहीं हूँ। पहले मेरा अपराध सिद्ध करें, फिर मुझे घर से बाहर जाने के लिये कहें।'

मिगार जी सोच में पडें कि अब क्या करना?

विशाखा ने उन्हें याद दिलाया 'मेरे पिता ने विवाह के समय जिन आठ ब्राह्मणों को बुलाया था उन्हें आप बुलाईये। उनसे राय लीजियेगा।' उन ब्राह्मणों को आमंत्रित किया गया, 'मै बासा अन्न खाता हूँ ऐसा कहकर इसने मेरा अपमान किया।' मिगार ने तिलमिलाकर कहा। पंचों ने विशाखा से स्पष्टीकरण मांगा।

'जी, मेरे कहने का आशय था कि मेरे ससुर जी दान नही करते। नवीन पुण्य प्राप्त न करके पुराने पुण्य पर ही निर्वाह करते है। इसलिये मैने कहा कि वे बासा अन्न खाते हैं।'

पुत्रवधू द्वारा अपने स्वभाव की की हुई सही परख देखकर मिगार जी लज्जित हुएं। पंचों ने भी कहा की विशाखा ने तो उचित बात कही है। परंतु पुत्रवधू का यह कहना सरलता से मानना कठिन था। वह अहंकार को ठेस पहुँचानेवाला था।

अतः मिगार ने विशाखा को उसके पिता द्वारा बिदाई के समय दिये गये १० उपदेशों का स्पष्टीकरण मांगा। वह भी उसने दिया।

१. प्रथम शिक्षा : अंदर की आग बाहर न ले जायी जाय।

अर्थ – घर में लडाई झगडा हो तो उसकी चर्चा बाहर न की जाय।

२. बाहर की आग अंदर न लाना।

अर्थ – बाहर के लोग अपने घर के किसीकी बुराई करते है तो उसकी चर्चा घर में न करना।

३. किसीने कोई वस्तु दी है तो उसे ही वह लौटाई जाय।

४. जिसने न दी हो उसे न देना।

५. अपने गरीब सगे संबंधी हमसे मांगकर ली हुई वस्तु वापिस करने में असमर्थ हो, तो वह वस्तु उन्हें दे दी जाय।

६. सुख से बैठना – अपनेसे बडे जहाँ बार बार आते हैं वहाँ न बैठा जाय।

७. सुख से भोजन करना – बडों के भोजनोपरान्त नौकर बगैरे के भोजन की व्यवस्था करके पुत्रवधू ने भोजन करना चाहिये।

८. सुख से सोना – बडे लोगों के सो जाने पर छोटों को सोना चाहिये।

९. अग्निपूजा – ब्राह्मण अग्नि की परिचर्या करते है। उसी तरह पति से व्यवहार हो।

१०. गृहलक्ष्मी की पूजा। गृहिणी का यथायोग्य सम्मान किया जाय।

विशाखा की बातें सुनकर पंचा ने उसकी भूरि भूरि प्रशंसा की। मिगार को उन्होंने कहा, 'ऐसी समझदार लडकी को घर से ना निकालें। यह गृहलक्ष्मी है। उसका यथोचित सम्मान हो।'

मिगार ने भी प्रसन्नता से सह बात स्वीकार कर ली। अपनी जीत का पूरा पूरा भरोसा होने बाद विशाखा ने अंतरंग की बात उनके सम्मुख रखी।

'ससुर जी आप मेरे पूज्य है। परंतु एक बात से मेरा आप से मेल नहीं होता। आप दिगंबर के उपासक, मै बुद्ध की, अतः टकराव होता रहेगा।'

'नही बेटा, आज से तुम अपने मार्ग पर चलोगी, मै अपने मार्ग पर चलूंगा।'

'गलतधारणा, असंजस के बादल हट गयें। आकाश साफ हो गया। आगे चलकर मिगार बुद्ध–अनुयायी बनें। उन्होंने बुद्धदेव से कहा – इस विषय में विशाखा मेरी माता के समान है। उसीके कारण मै इस मार्ग पर चल रहां हूँ।' उसी दिन से विशाखा 'मिगार माता' नाम से प्रसिद्ध हुई।

विशाखा ने 'पूर्वाराम' नामक उद्यान में भिक्षु संघ को रहने के लिये प्रासाद बनवाया। वह भी 'मिगार माता प्रासाद' नाम से प्रसिद्ध हुआ।

टंका

महाराष्ट्र के एक गांव में एक संत रहते थे – राका। पूरा परिवार ही विठ्ठलभ्नत था। राकाजी, जो दाने भूमि पर गिरे मिलते थे, वे ही उठाकर लेते थें और उनपर ही जीवननिर्वाह करते थें।

एक दिन राकाजी वन में जाने के लिये निकले। मार्ग में उन्हें सुंदर, रत्न गदे हुए सोने का एक कंगन दिखाई दिया। उन्होंने वह कंगन उठाया – देखा। उसके पश्चात् उन्होंने कगन जहाँ था वहीं रखा। आगे बढें ही थे, कि मन में आया पीछे से मेरी पत्नी आ रही है, उसके मन में मोह निर्माण हो सकता है। उस कंगन पर उन्होंने हाथों से मिट्टी डाल दी। अब कंगन दिख नही रहा है यह देखकर वह आगे बढें। दूर से ही उनकी पत्नी ने अपने पति कुछ छिपा रहें है ऐसा भांप लिया। उस स्थान पर पहुँच कर उसने मिट्टी बाजू की, और देखा तो एक कंगन था। उसने हाथ में लिया।

'सुंदर है। किसका गिर गया, पता नही। बेचारी छटपटाती होगी।' मन ही मन वह बुदबुदाई।

'या करना अपने को?' दूसरे मन ने कहा 'पीछे से टंका आ रही है। छोटी है, जिद कर बैठेगी।' उसने भी पति का अनुसरण किया और आगे बढ गयी।

टंका आई। उसने न मिट्टी कुरेदी, न कंगन देखा। माँ पिताजी के पूछते ही उसने कहा 'आपने-या किया? मिट्टी पर मिट्टी डाल दी।'

विश्व के तमाम लोगों को आकर्षित करने वाले, मन में लालच निर्माण करने वाले सुवर्ण को अपनी बिटिया ने मिट्टी संबोधित किया यह देख कर (सुवर्ण यह एक खनिज है, मिट्टी में प्राप्त होनेवाली अधिक दाम की मिट्टी।) दोनों पति–पत्नी भावविभोर हो उठें और मन में लज्जित भी।

''हाँ बेटी, सच कहा तुमने। सुवर्ण भी मिट्टी ही है। वह भी पृथ्वी तत्त्व ही है।''

विदुला

''मुहुर्तं ज्वलितं श्रेयः। न तु धूमायितं चिरम्।।''

विदुला सौवीर देश के राजा की पत्नी थी। पतिनिधन के समय पुत्र संजय बहुत छोटा था। सिंधु देश के राजा ने उनका राज्य छिन लिया था। बडे होने पर उसने सिंधु देश के राजा का मुकाबला किया। किन्तु संजय कोमल स्वभाव का भीरु युवक होने के कारण युद्ध की विभीषिका ने उसे आतंकित कर दिया था।

युद्ध से पराभूत होकर वह घर आया तब विदुला ने उसकी निर्भत्सना की। उस समय वह बडी दीनता से अपनी माता से कहने लगा 'माँ, मै तेरा एकमात्र पुत्र हूँ! मेरी मृत्यु से क्या तुझे सुख मिलगा?'

विदुला क्षत्राणी थी। स्वाभिमानी और तेजस्विनी थी। उसने युद्धभूमि से लौटकर आये हुए पुत्र की बडे कठोर शब्दों में निभर्त्सना की। उसने संजय को कहा 'तुम वीरकुल में उत्पन्न राजपुत्र हो, इस कुल में किसीने कभी भयवश मस्तक नही झुकाया। न कभी किसीसे याचना की। उसी कुल में जन्मा तू, दूसरे की याचना करेगा? दूसरोंकी आज्ञा मानता रहेगा? दूसरों के भय से आतंकित रहेगा? यदि तुझमें क्षत्रिय का ख़त है तो तू ऐसा पराभूत, अपमानित जीवन नही जी सकेगा। तू वीरवंश में पैदा हुआ है। अपने वंश का कलंक बनकर शत्रु की कृपा का भिकारी बन कर जीवन बिताना तुझे शोभा नही देता। क्षत्रिय मर जाता है परंतु झुकता नही। बेटा उठ! 'सम्यक् जयः इति संजयः'। अपने मान को व्यर्थ मत होने देना। तू प्रज्वलित अग्नि की भांति प्रकाशित हो। निन्दित अपमानित होकर, दीन, दीर्घ, जीवन की इच्छा मत कर।'

माता विदुला की फटकार सुनकर, बडे करुण स्वर में संजय ने माता से कहा 'माँ, तू कितनी कठोर है। वीरता के आवेश में तू वात्सल्य भाव भूल गयी है। प्राणों के भय से मै तेरे पास आया हूँ। तू मुझे पुनः युद्ध में मत भेज! मेरे प्राणों की रक्षा कर।'

विदुला ने कहा – 'मै तेरी माता हं। पुत्र–स्नेह माता का धर्म है। पुत्र का कल्याण हो, यही माता की आंतरिक इच्छा रहा करती है। किन्तु तुझे श्रीहीन, तेजोहीन देखकर भी मै चूप रहूँ तो मेरा मातृत्व लज्जित होगा। क्षत्राणी वीरमाता होने में गौरव मानती है। जो क्षत्रिय युद्ध में पीठ दिखाता है, वह क्षत्रिय कहने योग्य नही है। धिक्कार है उस माता का, व्यर्थ है उसका जीवन, ऐसे तेजहीन, निरुद्यमी, कायर पुत्र से स्नेह कर के जो सन्तुष्ट रहती है।'

'पुत्र, तेरी यह अवस्था मोह के कारण हुई है। अपनी बुद्धि स्थिर कर। तभी तुझे अपने कर्तव्य का स्मरण होगा। कर्महीन, उद्यमहीन, आलसी, सम्पन्न जीवन से, कर्मवीर की चेष्टायें सहस्रगुनी श्लाघ्य है। प्राण जाने का भय त्याग दे।'

'एक बार अपने को क्षत्रिय माता के योग्य पुत्र सिद्ध कर। अपने विरोधियों को अपने तेज और पराक्रम से रौंद डाल। वीरकुल में अपना जन्म सार्थक कर। तेरा साहस, तेरा शौर्य, तेरी वीरता, सैनिकों में साहस और बल प्रकट करेगा। फिर देखना तेरी माता के हृदय में तेरे प्रति कितना स्नेह है।'

अंततः संजय तेजस्विनी का पुत्र था। उसे माता के वचन चुभ गयें। उसका वीरत्व जाग गया। उसने माँ के समक्ष प्रतिज्ञा की।

'माँ, तेरा पुत्र या तो विजयी होकर लौटेगा या वीरगति प्राप्त करेगा।' ऐसा कहकर उसने प्रस्थान किया।

प्राण हथेली पर ले कर लडनेवालों के समक्ष यमराज भी नम्र होते है। तो सिंधुराज की क्या कथा! उसको पराजित होकर भागना पडा और संजय ने विजयश्री प्राप्त कर माता के चरणों पर मस्तक रखा।

अपने प्राणों की बाजी लगा कर, अपने आदर्शों की रक्षा करने हेतु अपने पुत्रों को रणभूमि भेजनेवाली माताओं के कारण ही भारत विश्ववंद्य बन सका।

अविचल श्रद्धा

सालबेग यह कटक के शक्तिशाली अधिकारी लालबेग का पुत्र। सालबेग की माँ हिन्दु थी। लालबेग उसे जबरदस्ती से भगाकर लाया था। सालबेग के जन्म के कुछ वर्ष पश्चात् तरुणाई और सौंदर्य में कमी आयी। अब तो उसकी ओर देखने की भी लालबेग को फ़रसत नही थी।

एक बार युद्ध कला सीखते समय तलवार से सालबेग के मस्तिष्क पर घाव हुआ। काफो उपचार किये गयें। परंतु कुछ लाभ न हुआ। सालबेग अत्यंत दुखी था। 'माँ, कुछ अच्छी सी दवाई का प्रबंध करो। यह मेरेसे सहन नही हो रहा हे।'

'बेटा, श्रीकृष्ण की भक्ति यही एक इलाज हे। श्रीकृष्ण नामजप से १० दिन में घाव ठीक हो जायेगा।' १० दिन हुएं – सालबेग नामधुन में मस्त था। ११ वा दिन भी गया। उसकी माँ की श्रद्धा अविचल थी। वह कहती रही – 'बेटा, धीरज रखो।' – उसी रात सालबेग चिल्लाते हुए उठे – 'माँ, तुम्हारे श्रीकृष्ण जी ने मुझे दर्शन दियें। माँ, देखो घाव की केवल निशानी ही शेष है। अब मै जीवनभर, जिंदगी के अंत तक श्रीकृष्ण भगवान्, गोपाल जी को भूलूंगा नही, छोडूंगा नही।'

माँ के दृढ विश्वास की विजय हुई। यह विजय, श्रद्धा की विजय थी।

भविष्य में सालबेग परम कृष्णभक्त बने–संन्यासी बने।

भागीरथीबाई शिंदे

''बचेंगे तो और भी लडेंगे!'' मरणासन्न अवस्था में नजीबखान रोहिला को ऐसा तेजस्वी उत्तर देनेवाले वीर दत्ताजी की पत्नी थी भागीरथीबाई। भागीरथीबाई भी हमेशा पति के साथ युद्धक्षेत्र जाती थी। पानिपत की प्रसिद्ध लडाई में दत्ताजी को वीरमरण प्राप्त हुआ। जनकोजी–उनका भतीजा–घायल हुआ। अपने चाचा के मृत्यु का समाचार सुनते ही जनकोजी व्याकुल हो उठे। आंसू झरने लगें। अपने पुत्रतुल्य भतीजे की स्थिति भागीरथीबाई सहन न कर सकी – 'एक विधवा की तरह रोते-यों हो? जयाजी शिंदे की चार बेटियों जैसा, तू ५ वी बेटी होता तो और दामाद ले आतें। पाटील धराशायी हुएं तो-या लेकर गयें? दुनिया, दौलत, महल, भूमि, हाथी, घोडे, खजाना सभी आपके लिये छोड कर गयें – साहस रच कर जीवन सार्थ करो।'

स्वयं पतिनिधन का दुख सहते हुए भी वे भतीजे के लिये युद्ध की प्रेरणा बनी।

गौतमी

१०७ का वर्ष भारतवर्ष के लिये महत्वपूर्ण रहा। आंध्र का गौरव बढानेवाले राजा शालिवाहन की राजधानी थी धान्यकटक। राजमाता गौतमी का पुत्र शातकर्णी राज्य कर रहा था। शातकर्णी के पिता श्रीमुख ने शकों को पराजित करके निर्बल बनाया था। परंतु बालराजा शातकर्णी राज्याधिष्ठित होनेके पश्चात् शकों ने आक्रमण किया। शकों को केवल इस युद्ध में पराजित करना इतना ही नही तो उनको सदा सदा के लिये अपने देश के बाहर खदेड कर परमप्रिय भारत को गौरवान्वित करना यही आकांक्षा थी राजमाता गौतमी की।

परंतु शातकर्णी शकों के साथ युद्ध करने के लिये नाखूष था।-यों कि अधिकांश सामंत स्वार्थी थें, दुर्बल थें। उनको सहाय्य मांगने पर थोडीसी सेना भेजकर उन्होंने छुटकारा पा लिया। एक ओर देशवासिंयों की धोखबाजी और दूसरी ओर सामर्थ्यशाली, संगठित शकों का आक्रमण। राजा शातकर्णी कैची में फस गयें। शकों के साथ संधि करने के लिये वह मन में तैयार हो रहें थे।

राजमाता को यह विदित होने पर वह सिंहनी की तरह गरज उठी – ''मै वीरपुत्री हूँ, वीरपत्नी थी, वीरमाता बनना चाहती हूँ।'' राज्यसभा में उसने चेतावनी दी 'रणभूमि पर जाकर युद्ध करो और विदेशियों को खदेड दो।' परंतु शातकर्णी विवश था। साहस बटोरकर उसने अपने सैन्य की कमी और रक्षा विभाग की अक्षमता की जानकारी दी और समझौता करना ही कैसा हितकारक है यह राजमाता के गले उतारने का प्रयत्न किया। राजमाता ने कहा 'जिस प्रकार नृत्य न जाननेवाली

नर्तकी आंगन में दोष देखती है, ऐसी ही तुम्हारी बात है। मै कुछ भी समझौता करने के लिये तैयार नही हूँ।' इसके बाद विरोध करने की किसीकी भी हिंमत नही हुई।

घमासान युद्ध प्रारंभ हुआ। राजमाता गौतमी उद्विग्न मन से किले के तट पर खडी होकर युद्ध देख रही थी। मन में पुत्र के विजय की आकांक्षा व्याप्त थी। अचानक उसने किले की दिशा में दौडता हुआ आनेवाला एक सैनिक देखा। निकट आने पर वह शातकर्णी है यह उसने पहचान लिया। तब उसने किले के महाद्वार बंद करने की आज्ञा दी। शातकर्णी घायल हुआ था। 'माँ, दरवाजा खोलो न। मै, शातकर्णी आया हूँ।'

रानी ने उत्तर दिया 'मुझे माता कहकर पुकारने का तुम्हें अधिकार नही है। मुझे वचन देकर गया था। और युद्धभूमि से भाग आया है। मै कायर की माँ बनना नही चाहती हूँ। युद्ध में विजय पा कर आओ, या वीरगति प्राप्त करो। तुम जैसे कायर लोगों के लिये शालिवाहन राजाओं के राज्य में स्थान नही है।'

शातकर्णी अपने को संभालते हुए बोला 'माताजी मै भागकर नही आया। आपसे मंत्रणा करने के लिये आया हूँ। शत्रुसेना अधिक है। हमने बहुत से सनिकों का सफाया किया है। परंतु अपनी संख्या कम होने के कारण जीत कठिन है।.या करें हम?'

राजमाता ने उत्तर दिया 'युद्ध जीतने की प्रबल इच्छा से तुम युद्ध करो। विजय तुम्हारी ही है। युद्ध से भाग कर नही आना। किले का दरवाजा नही खुलेगा। तुम तुरंत जाओ अन्यथा तुम्हारी अनुपस्थिति का पता सेना को लगेगा तो वह टूट जायेगी।'

राजा ने तुरंत घोडा दौडाया। प्रधान, अमात्य ने राजमाता के कटु व्यवहार पर खेद प्रकट किया। तब राजमाता ने कहा 'दूसरों की राय पर वह कब तक राज्य संभालेगा? उसको स्वयंने निर्णय ले कर खडा होना चाहिये। दृढनिश्चयी बनना चाहिये।'

दूसरे दिन शातकर्णी विजयी होकर लौट आया। किले में बडी धूमधाम से उसका स्वागत हुआ। शातकर्णी ने माता की चरणधूलि मस्तक पर धारण की और कहा कि 'यह वीरता का पाठ उसने माता से सिखा है और उसको वीरमाता होने का गौरव प्राप्त कर दिया है। जीवन का सर्वश्रेष्ठ पाठ मैने माता से ग्रहण किया है। अतः मै केवल शातकर्णी नही तो गौतमीपुत्र शातकर्णी कहलाऊँगा। शासकीय कागजपत्रों में भी यह परिवर्तन किया जायेगा।'

धन्य धन्य वीरमाता गौतमी।

कला उपासना है

इंद्रगिरी की चोटी पर विशाल शिला देखते ही नेमी अंग अंग फले न समाया। निरंतर छिन्नी से काम करने से नेमी पहचान गयें। उसके हाथ इस विशाल शिला पर घुमने लगे। मयुरपंख जैसी उसकी आँखें चमकने लगीं, एक अभुतपूर्व शिल्प बनाने की कल्पना से।

'नेमी, भगवान् बाहुबली की प्रतिमा बनानी है। माँ की बडी इच्छा है।' चामुंडराय ने बताया।

'महाराज, माँ जी प्रसन्न होंगी ऐसी मूर्ति अवश्य निर्माण होगी – परंतु!' अरिष्टनेमी चूप हो गया।

'परंतु.या? नेमी बोलो' उतावली से चामुंडराय ने पूछा। नेमी.या कहना चाहता है? माँ की इच्छा हर हाल में पूर्ण करनी होगी। और नेमी? – वह साच रहा था, 'हस्ती बडी है। अच्छा पैसा मिलेगा। मेरी माँ को मै सुख दे पाऊंगा। माँ का सुख!' और भव्य दिव्य शिल्प के झूले पर मन हिलोरे ले रहा था। नेमी को याद आ रही थी माँ की। घर की गरीबी, घर के चप्पे चप्पे से प्रतीत होती थी। असर माँ को बहुत कष्ट उठाने पडते थे।

''पत्थर के जितने छोटे टुकडे निकलेंगें उसके वजन का सुवर्ण'' नेमी।

''बस, इतना ही, सुवर्ण मिल जायेगा। चलो अब प्रारंभ करो। माँ की बडी इच्छा है।'' – चामुंडराय।

छिन्नी और हथौडे की लयबद्ध आवाज से श्रवणबेलगोल का परिसर गूंज उठा। उस आवाज की प्रतिध्वनी से कलाकार उत्साहित होते थे। नेमी के हाथ मूर्ति गढ रहे थे। मन में अब एक ही ध्यास था – अमर कलाकृति का।

रोज सायंकाल छिन्नी से निकले हुएं छोटे छोटे टुकडों, चूरे का ढेर लगाया जाता था। नेमी का ध्यान एक दिन उस ढेर की ओर गया। ओ! इतना धन मुझे मिलनेवाला है। वह खुशी से हंसने लगा। इस धन से वह दरिद्रता दूर करनेवाला था। माँ के कष्ट दूर कर उसे सुख में रखनेवाला था। चैन की बांसुरी बजाना था।

परंतु,या हुआ पता नही। अचानक नेमी के हाथ लूले पड गयें। काम रुक गया। नेमी पगला गया। नेमी की निराशा बढती जा रही थी। मन आक्रोश कर रहा था। काम अधुरा था। अकेले में ही वह फट फट कर रोने लगा। ऐसी अवस्था में खटिया पर बैठे बैठे झपकी लग गयी।

'बेटा! तुम्हारे हाथ शक्तिहीन हो गयें। अपनी कला बेचने पर तुल गया तू। अपने कुल में कला का व्यापार किसीने भी नही किया। बेटा, तुम्हारे हाथ शक्तिहीन होना यह कुलदेवता का क्रोध है। सर्वसंग परित्याग किये हुए संत का शिल्प निर्माण करते समय तुम्हारे मन में अभिलाषा निर्माण ही कैसे हुई? मोह त्याग दो। तुम्हारी शक्ति लौट कर आयेगी। बेटे, तुम्हारे शिल्प की लागों ने की हुई प्रशंसा ही मेरा सुख है। ऊठ, काम में लग जा। नही तो देवता का क्रोध, नाराजगी मुझे सहन करनी पडेगी।' नेमी की माँ ने उसे जगाया।

नेमी ने आँखे खोली। सामने माँ नही थी। आज 'गुरुकृपा अंजन पायो रे भाई' ऐसी स्थिति हुई। बुझे बुझे चेहरे पर, मानो बिजली सी कौंध उठी। मन ही मन माँ को वंदन किया। 'माँ, तुम्हारा सुख ही मेरा सुख है, तुम्हारा आनंद मेरा आनंद है।' ऐसा बुदबुदाते उसने हथोडा हाथ में लिया और जूट गया, अपना जीवित कार्य पूर्ण करने के लिये।

थोडे ही दिनों में बाहुबली का ५७ गज का शिल्प साकार हुआ। उसकी ओर देखते नेमी की आँखे सजल हो उठी। एक बार मूर्ति की ओर और एक बार अपनी हथेलियों को देखता रहा। 'सच इन्ही हाथों ने बनाया है यह शिल्प।' उसकी आँखों से आंसू मूर्ति पर अविरत बरस पडें। भीगी आँखे चांद सितारों जैसी चमकन लगी। मूर्ति देखते ही चामुंडराय की माताजी के होठों पर मुस्कान थिरक उठी।

नेमी को भी ध्यान आया, अपनी माँ का। उसे लगा माँ के चेहरे पर भी एक असीम शांति विराजमान है। 'माँ तू कहाँ है?' नेमी ने आक्रोश किया। नेमी की माँ कब की ईश्वररूप हुई थी। नेमी भी उसे मिलने चल दिया।

चामुंडराय ने नेमी को खोजने के लिये दूत भेजें, वे वैसे ही लौट आयें। उन्हें नेमी मिला नही।

'जीवन के लिये कला, या कला के लिये जीवन?' इस प्रश्न का कितना सीधा उत्तर एक माँ ने दिया है? भारत में कला भी एक उपासना मार्ग है।

भुवनश्वरी

''मेरी बौद्धिक उन्नति का कारण मेरी माँ है। मेरा बुद्धिवैभव उसकी शिक्षा का फल है।'' स्वामी विवेकानन्द बननेके बाद नरेन्द्र के ये उद्‌गार!

माँ भुवनेश्वरी नित्य उन्हें उपदेश करती – 'प्राण गये तो भी सत्य से विन्मुख न होना। बेटा, अपना आचरण पवित्र रखो। शील संभाला, स्वाभिमान से रहो, पर किसीके मन को ठेस नही पहुँचाना। किसीके स्वातंत्र्य पर आक्रमण नही करना, तुम्हारे अंतःकरण में सदैव सौजन्य रहें। परंतु विशेष परिस्थिति में अंतःकरण वज्र की भांति कठोर बना कर, कर्तव्य से कभी भी विन्मुख नही होना।'

स्वामी विवेकानंद बननेके पश्चात् भी शिष्यों के मन में वे धर्मभाव जगाते थे। विवेकबुद्धि जागृत होने के बाद इष्ट मार्ग से वे अपना आत्मविकास करें – यह स्वामीजी की पद्धति थी। उनके एक शिष्य कहते है – 'स्वामीजी की इस प्रकृति का मूल उनकी माँ के उपदेश में था।'

नरेन्द्र अपनी शिशु अवस्था में एक शरारती शिशु था। उसे शांत करने के लिये माँ उन्हें पानी की धारा के नीचे खडा करती और मुंह से 'शिव' बोलती – तब कहीं जाकर उसका क्रोधावेश शान्त होता। वह अ्सर उन्हे बताती – 'देख, तू ऐसी शरारत करेगा तो शिव जी तुम्हे कैलाश पर्वत पर आने नही देंगे।'

नरेन्द्र का परिवार धनी था। घर में घोडागाडी थी। घोडे के मोतद्दार का सुंदर पोशाक, उसका चाबुक नरेन्द्र के आकर्षण का विषय थे। एक बार किसी ने पूछा – 'नरेन्द्र, भविष्य में तुम्-या बनोगे?'

'मै घोडागाडी चलानेवाला बनूंगा।' सब हंसने लगे। वकील बाबू का लडका घोडागाडी चलायेगा?

माँ को उपहासका यह स्वर अच्छा नही लगा। बालक का हाथ पकडकर वह उसे गीता बतानेवाले रथारूढ श्रीकृष्ण के चित्र के सामने ले गयी और कहा, 'बेटा, तुम अवश्य घोडागाडी चलाओ, पर इसके जैसे! संभ्रमित पार्थ को सही मार्ग पर ले जानेवाले सारथी बनो।'

'भविष्य में देश विदेश के अनेक संभ्रमित पार्थों को स्वामीजी ने बोध किया। बालक को माँ सही दिशा दिखाये – वह अवश्य उसी पर चलता है।'

एक दिन नरेन्द्र मेले में गया था। वहाँसे शिवजी की एक सुंदर पार्थिव मूर्ति वह ले आया। रास्ते में उनका एक मित्र पीछे रह गया। वह्-यों नही आया यह देखने के लिये नरेन्द्र मुड गया। ओह! वह घोडागाडी के नीचे आनेवाला था। नरेन्द्र एकदम सचेत हो गया और छलांग लगाकर उसे खींच लिया। गाडी चली गयी। मित्र बच गया – लेकिन प्रतिमा नही। भुवनेश्वरी माँ ने शाब्बासी देते हुए कहा – 'बेटे ऐसे पुरुषार्थ के काम जीवनभर करते रहना।'

वे विद्यालय में पढते थे तो माँ उनके प्रयत्नों को परमेश्वर यश दे और जब वे परमहंस जी के शिष्य बने तो उन्हें शीघ्र ही आत्मानुभव प्राप्त हो इस लिये प्रार्थना करती थी। यह प्रार्थना लौकिकार्थ से अद्भुत थी। उनकी यह प्रार्थना नरेन्द्र को उनसे दूर ले जानेवाली अवश्य थी परंतु उसी में उसका पूर्णत्व है यह भी उनको पता था।

'भारतीय नारी' इस पुस्तक में स्वामीजी लिखते है – जिनके जन्म के लिये प्रार्थना की जाती है वह आर्य! स्वामीजी यथार्थ में आर्य थे। माँ भुवनेश्वरी स्वयं पूरा समय ईश चिंतन करती रहती। इतना ही नही तो स्वामीजी गर्भ में थे उस समय उन्होंने काशी में रहनेवाली अपनी बुवा सास को भी प्रार्थना करने के लिये पत्र लिखा था। वह वृद्ध महिला दंडे के सहारे चलकर गंगाजी का पवित्र जल रोज विश्वनाथजी को चढाती है, यह समाचार मिलते ही वह संतुष्ट हुई।

स्वामोजी की माँ पर नितांत श्रद्धा थी। माँ ने कुछ करो ऐसा कहने के बाद उन्होंने 'यों' ऐसा प्रतिप्रश्न कभी नही पूछा।

माताजी से वे नित्य रामायण, महाभारत, पुराणों की उत्तमोत्तम कथाएँ सुनते थे। वैसे ही अंग्रेजी मूलाक्षर व कुछ शब्द माँ ने ही उन्हे पढाये थे।

विद्यालय म नरेन्द्र को दो बार बहुत मार पडी। एक बार उनके शिक्षक ने भूगोल पढाते समय कुछ गलत लिखा। यह बात नरेन्द्र ने बताने पर उसको पीटा। नरेन्द्र का कहना था मेरा उत्तर सही है। गुरुजी नाराज हुएं – काफो पिटाई हुई। उसने चुपचाप सहन कर ली। बाद में अपनी गलती शिक्षक के भी ध्यान में आयी। दूसरी बार मार खायी, कक्षा में हंसने के लियी। दोनों प्रसंग उन्होंने माताजी को बतायें। माँ ने समाधान किया – बेटा, तुम्हारा कहना सही था फिर भी पिटाई की ओर ध्यान न देते हुए जो सत्य है – विवेकबुद्धि को जो ठीक लगता है वहीं तू करते जा। माँ की सीख शिरोधार्य मानने के कारण उन्हे काफो कठिनाइयाँ झेलनी पडी। निकटवर्तियों का कभी अविश्वास भी हो जाता था, परंतु उन्होंने परवाह नही की।

भगिनी निवेदिता कहती थी – 'माँ आपने भारत को दो नररत्न दिये – एक स्वामीजी और दूसरा भूपेन्द्र।'

प्रेरणा का प्रतीक

सुब्रह्मण्य भारती का संपूर्ण साहित्य भारत की अमूल्य धरोहर है। देशप्रेम की दिव्य अनुभूति, जन्मभूमि के कण कण के प्रति अगाध ममत्व, श्रद्धा एवं स्नेहभाव उनकी कविताओं का मूल स्वर है। वे तमिल कवि थे। उन्होंने एक ऐसे स्वतंत्र भारत की कल्पना की थी जिसमें राजनीतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, सामाजिक स्वतंत्रता – सद्भाव और मित्रता का वातावरण हो, सर्वत्र प्रेम का साम्राज्य हो, नये राष्ट्र के जनजन के स्वप्नों का भारतीय शासन हो। उसके पीछे प्रेरणा है भगिनी निवेदिता की।

१९०६ में कलकत्ता में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। उसके पश्चात् भगिनी निवेदिता से सुब्रह्मण्य भारती की भेट हुई। अत्यंत श्रद्धा से वह उनसे मिलने गये। प्रारंभिक औपचारिक परिचय के उपरान्त निवेदिता ने पूछा ''पुत्र,क्या तुम विवाहित हो?''

''हाँ माता, मै विवाहित हूँ और मेरी २ वर्ष की पुत्री भी है।''

''उसे साथ ले कर यों नही आयें?'' निवेदिता ने पूछा।

''हमारे परिवारों में स्त्रियों को सार्वजनिक स्थानों में ले जाने की परंपरा नही है और फिर वे राजनीति के संबन्ध कुछ जानती भी नही।'' भारती ने संकोच के साथ अपना भाव प्रकट किया।

'पत्नी को हृदय में प्यार का स्थान दो। ईश्वर की दष्टि में सब बराबर है। अपनी पत्नी को अपना अंश मान कर उसे अपने समान मान कर सम्मान दो। यदि देश का आधा हिस्सा शेष आधे हिस्से को गुलाम बनाये, तो स्वतंत्रता कैसे प्राप्त हो सकेगी? अज्ञान, पिछडेपन, अंधविश्वास से युत इस आधे हिस्से को अपने समकक्ष मानो। हृदय में आदरभाव रखो' भगिनी निवेदिता ने कहा।

स्त्रीजाति विषयक ''भारतीय चिन्तन'' का एक रूप भगिनी निवेदिता ने ही तय कर दिया। और उन्होंने बताया – ''मेरे पुत्र, जाती, वंश, अथवा जन्म के कारण मानव मानव में अन्तर नही होना चाहिये। भारत की कल्पना एक ऐसी पीडित माँ के रूप करो जो शृंखला से आबद्ध है। मुझे विश्वास है कि तुम एक दिन यश प्राप्त करोगे।''

निवेदिता के इन्ही विचारों से युत यह ममतामय मातृवाणी मन में अन्दर तक उतरती चली गयी। उन्होंने इस भेट में जो जीवन दृष्टि दी उसका उनके समग्र जीवन और सृजन पर अद्भुत प्रभाव पडा।

विदाई के समय भगिनी निवेदिता ने उन्हें एक प्रसाद रूप में हिमालय से लाया हुआ एक वृक्ष का सूखा पत्ता भेट दिया। वह उनके लिये 'प्रेरणा का प्रतीक' बन गया। उनकी दारिद्र्यावस्था में काफो धन दिये जाने का प्रलोभन मिलने पर भी उन्होंने उस पत्ते को अपने से अलग नही किया।

पुतला बाई (म. गांधीजी की माँ)

'सत्याग्रह' बीसवी सदी को गांधीजी ने दिया हुआ एक शस्त्र! गांधीजी का निग्रह, उनकी सादगी – उनका व्रतपालन विश्वभर के लिये मानो एक अजीब 'पहेली' था। पर उनके चरित्र के पन्ने पलटते ही ध्यान आता है – वह पहेली नही – एक माँ के संस्कार है।

गांधीजी की माँ का नाम था पुतलाबाई। वह अत्यंत धार्मिक थी। ईश्वर पर नितांत श्रद्धा थी। तरह तरह के व्रत रखती थी। कई बार वे चांद्रायण व्रत करती थी। इसमें रात को चंद्रमा देखकर, उनकी आरती उतारकर ही भोजन ग्रहण किया जाता है। वह भी पेटभर नही – तिथि के अनुसार एक एक कोर बढाते तथा घटाते जाना। प्रतिपदा को एक, द्वितीया को दो ऐसी पद्धति है। वैसे ही चौमास में सूर्य दर्शन के बिना भोजन नही करती। घने बादल होने के कारण कभी दो–तीन दिन तक सूर्य दर्शन नही होता तो उन्हें भूखा रहना पडता। कभी कभी बच्चे स्रज देखकर कहते – 'आईये – सूर्य भगवान् के दर्शन करिये।' माँ रसोईघर से बाहर आने तक सूर्यभगवान् मानो उनके धैर्य की, निग्रह की परीक्षा लेने के लिये बादलों की आड ले लेते। बच्चों को दुख होता। 'ओह! आज भी माँ भोजन नही कर पायेगी।' पर वे बडे शान्त भाव से कहती 'और एक दिन

भोजन नही करूंगी। आप्‌ यों नाराज होते हो?' माँ की दृढता बच्चों ने अनजाने ही ग्रहण कर ली। वैसे भी कहा जाता ही है – 'जैसा बीज वैसा पेड!'

आगे चलकर पढाई के लिये गांधीजी का इंग्लंड जाना निश्चित हुआ। माताजी को बडी चिंता हो रही थी। वहाँकी भोगप्रवण संस्कृति की कई अनाप शनाप बातें वे नित्य सुनती थी। मातृहृदय अपने पुत्र के पथभ्रष्ट हो जाने की आशंका से थर्रा उठा।

प्रतिज्ञा ने रक्षा की

गांधीजी विवाहित थे। उनका एक पुत्र था। उनसे एक दिन माँ ने प्रतिज्ञा करवाई – 'मै अभक्ष्य भक्षण, मदिरापान और परस्त्री गमन नही करूंगा।' घर से अपने प्रियजनों से दूर रहने के बाद यह बडा कठीन था। पर गांधीजी को अनुभव हुआ की उस जादूनगरी में भी माँ के वत्सल–कवच ने उनकी हर समय रक्षा की। उनके मित्र उन्हें रोज मांसाहार के लिये मनाते थे परंतु वे मानते नहीं थे। गांधीजो की मातृभक्ति उनकी समझ के परे थी।

एक दिन मित्र चिढ गये। बोले – 'तुम जैसे उच्च शिक्षित युवा के लिये उस अनपढ स्त्री का आज्ञापालन्‌ या शोभा देता है? जैसा देश वैसा वेश हो। तुमने प्रतिज्ञा का उल्लंघन किया तो भी माँ को उसकी जानकारी मिलना संभव नही है।' उनको लगता था मोहन का विचार बदल जायेगा। किन्तु परिणाम उलटा ही हुआ। उसने सोचा 'अनपढ्‌ यों ना हो, वह मेरी माँ है। उसकी अवज्ञा और विश्वासघात कैसे कर सकूंगा? नही! माँ के मन को कष्ट हो ऐसा काम मै कभी नही करूंगा।'

जब जब मांसाहार और मदिरा सामने आती – गांधीजी को माँ का स्मरण होता और वे अपने को बचा लेते।

मेरे दूध को लज्जित ना करो

उत्तर प्रदेश में 'हिंदूस्थान प्रजातंत्र संघ' नाम का एक क्रांतिकारियों का संगठन था। उसके एक सदस्य थे रामप्रसाद बिस्मिल। वे शहाजहाँपूर के रहनेवाले थे।

'कांकोरी षडयंत्र कांड' में आप पकडे गयें। अभियोग १९२६ को दाखिल किया गया। और उसकी सुनवाई १ मई १९२६ से प्रारंभ हुई। १९ अगस्त १९२७ को बिस्मिलजी को फांसी होनेवाली थी। १८ अगस्त को उनकी माताजी उनसे मिलने आयी। पार्टी के एक सदस्य श्री. शिववर्मा बिस्मिलजी से मिलना चाहते थे। उनके नाम से गिरफ्तारी वॉरंट था। पर वह किसी भी मूल्य पर अपने वरिष्ठ नेता का दर्शन चाहते थे। वे माताजी के पास पहुँचे।

'माँजी, मै पार्टी का सदस्य हूँ और अपने नेता बिस्मिल जी को मिलना चाहता हूँ।' – श्री. शिववर्मा

'तो चलो ना बेटा! कोई पूछेगा तो कह दूंगी कि यह मेरी बहन का बेटा है।' – माँ

कुछ घंटे पश्चात्‌ ही माँ की गोद उजडनेवाली थी पर तब भी यह संयम – सचमुच में आज भी मन को हिला देता है। बिस्मिल जी के पिता को लगा की माताजी बहुत रोयेंगी। इस लिये वे उनके साथ नही आये थे। और वहाँ पहूँचने पर वे ही रो पडे। और माँ ने तो उन्हें युद्धस्थल पर भेजते समय जैसे आरती उतारते है वैसे नेत्रों की ज्योति से आरती उतारी। माँ का धैर्य देख कर बिस्मिल जी की आँखे सजल हो उठीं।

माँ वे आँसू सहन ना कर सकी। बिस्मिल का धैर्य तो नही टूट रहा है? उनका हृदय कांप उठा। मन ही मन वे बोली – 'मेरा बेटा कायर नही हो सकता – निडरता से ही उसने मृत्यु का स्वागत करना चाहिये।' अतः वह समझाने लगी – 'बेटा, मुझे लगा तुमने स्वयं पर विजय पायी है। जीवनभर देश के लिये आंसू बहा कर अब अंतिम समय मेरे लिये रोने बैठे हो?‌ या मृत्यु का भय लग रहा है? इस कायरता से‌ या लाभ? तुम्हारा वीरमरण ही मेरी कृतार्थता है। मुझे गर्व है कि आज इस देश में, गयेगुजरे जमाने में भी मेरा बेटा मातृभू के लिये मर मिट रहा है। तुम्हारा लालन पालन कर तुम्हें बडा किया, उसके पश्चात्‌ तुम देश की सम्पत्ति बन गये। आज उसके काम आ रहे हो। मेरा जीवन धन्य हो गया। बेटा, धैर्य रखो। मेरे दूध को लज्जित न करो।'

रामप्रसाद जी माँ की इन बातों से मानो एकदम छोटे बन गयें। शायद उन्हें याद आया माँ की गोद में सोया हुआ, उनसे कहानी सुननेवाला छोटा 'राम'।

'मां, मृत्यु के भय से नही – आप जैसी माँ की गोद में जन्म लिया इस कारण धन्य हुआ। माँ, तुम्हारी ही गोद में अगला जन्म लूंगा' – रामप्रसाद

बस! भेट समाप्त हुई। वे माँ–बेटे हमेशा हमेशा के लिये एक दूसरे से बिछुड गये, पर उसी समय भारत माँ बोल रही थी –

'बेटी, तुम्हारी जैसी माँ के कारण ही ''अबला के नु माँ एत बले'' ऐसा मेरा वर्णन किया जाता है'।

भ्रति का विक्रय

मराठी के एक लेखक श्री. वि. ना. कोठीवाले के घर में दारिद्र्य का साम्राज्य था। और उनकी दस संतानें थी। माँ को निरंतर आपत्तियों का सामना करना पडता था। माँ का पढना लिखना तो उस समय में असंभव सा ही था। परंतु कोठीवाले जी कहते है 'वह मितभाषी थी। उसका प्रत्येक शब्द मुझे वेदवाय जैसा चिन्तनीय एवं विचारप्रवर्तक लगता था।'

यह घटना है १९२६ की। 'केसरी' समाचार पत्र में एक विज्ञापन आया कि – 'संतविजय' ग्रंथ किसीके पास उपलब्ध है-या? ६०–७० वर्ष पूर्व यह ग्रंथ मुंबई से प्रकाशित किया गया था। उसकी प्रती महाराष्ट्र कविचरित्रमाला के अंग्रेजी लेखक श्री. डॉ. जस्टिन इ. अवट (न्यू जर्सी, अमेरिका) के पास थी। वह जीर्णशीर्ण हुई थी और अपूर्ण भी थी – कलशाध्याय अर्थात् अंतिम अध्याय उसमें नही था। पुनर्मुद्रण करते समय, यदि कही किसीके पास संतविजय कलशाध्याय मिल गया तो संशोधित संस्करण छापने में सुविधा होगी, यह सोच कर कविचरित्रमाला के सहकारी संपादक कै. पं. नरहर रामचंद्र गोडबोले जी ने 'केसरी' में विज्ञापन प्रकाशित किया।

वि. ना. कोठीवाले जी उस समय पंढरपूर से प्रकाशित होनेवाले 'वारकरी' पाक्षिक में कार्यरत थे। उन्होंने विज्ञापन पढा और मातृकुल से प्राप्त संतविजय की अमूल्य धरोहर 'भारत इतिहास संशोधन मंडल, पुणे' को सौंप दी। श्रीमन्त सरदार आबासाहब मुजुमदार, एम. एम. दत्तो वामन पोतदार, कै. तात्यासाहेब मेहेंदळे आदि महानुभावों ने ग्रंथ का संशोधित कलशाध्याय 'भारत इतिहास संशोधन मंडल' के त्रैमासिक में प्रसिद्ध किया। उसे पढकर मुंबई के श्री. दामोदर सावलाराम शिंदे शेठजी के मन में संपूर्ण संतविजय प्रकाशित करने की प्रेरणा जागृत हुई। श्री. गोडबोले तथा श्री. शिंदे जी ने श्री. कोठीवाले जी से संपर्क किया। उन दोनोंने कोठीवाले जी की विपन्नावस्था ध्यान में लेते हुए उनको रू. १५,०००/– दान रूप में देने का प्रस्ताव रखा। कोठीवाले जी भी प्रसन्न हुएं। उसी समय उनकी एक बहन विधवा हो कर घर लौटी थी। डूबनेवाले को तिनके का सहारा, इस न्याय से इस राशि का उन्हें अपनी बहन के निर्वाह के लिये आधार लगा।

कोठीवाले जी ने 'हाँ' कहते ही शिंदे शेठजी ने रू. १५,०००/– की राशि तुरंत उन्हे दी। कोठीवाले जी खुशी खुशी घर लौटे। राशि माँ के स्वाधीन करते समय सभी बातें बतायी।

'बेटा! तुमने तो भ्रति को बेच दिया। नाम का विक्रय किया, उससे अच्छा तो मुझे ही बेच देते? और यह सब बातें हुई – दान का स्वीकार करने तक मुझे कुछ भी नही बताया? यही है तुम्हारा जन्मदात्री पर प्रेम? अरे-या इन १५,०००/– से हमारी गृहस्थी निभनेवाली है?-यों तुम स्वयं को लेखक कहलाते हो?'

माँ के 'नाम का विक्रय' शब्द से कोठीवाले जी मर्माहत हुएं। तुरंत धर्मशाला में रूके हुए शिंदे जी के पास जाकर उन्होंने राशि लौटाई और कहा माँ की भावनाओं का ध्यान रखते हुए यह राशि वापस कर रहा हूँ। माँ को इस तरह नाम के विक्रय का व्यवहार पसंद नही है।

बाद में प्रकाशन व्यवसाय के कानून के अनुसार उन्होनें उनसे विनामूल्य करार कर दिया। प्रकाशन के बाद शिंदे जी ने उन्हें १०० प्रतियाँ दान रूप में दी। पं. गोडबोले जी ने उसमें से एक प्रति साद्यंत समाचार सहित डॉ. अवट को भेजी।

उन्होंने प्रत्युत्तर में लिखा – 'धन्य है वह माता! जिसने अपने पुत्र को नामविक्रय, भक्तिविक्रय के पाप से बचा लिया। और भावभक्ति के लिये त्याग करने का महान पाठ पढाया। यह माता मुझसे भी अधिक धनवान है।' माँ के शब्द से कोठीवाले जी को त्याग का महत्त्व प्रतीत हुआ। परंतु इस घटना का विलक्षण परिणाम यह हुआ कि डॉ. अवट जी ने मृत्युपत्र में (अनेक दानराशियों के साथ) भारत इतिहास संशोधन मंडल को भी एक लाख तीस हजार डॉलर्स की दानराशि दी।

भलाई किसमें?

माँ छोटी छोटी बातों से बच्चों को जीवन का तत्वज्ञान सिखाती है। घर घर में होनेवाले ऐसे ही कुछ संवाद ही शब्दबद्ध किये है।

घटना – एक लेखिका और उसके छोटे भाई के बाल्यकाल की बात। उसके पडोस में तब झुग्गीझोपडियाँ थी। पडोस के लडकों के साथ झगडा हुआ। भाई का शर्ट फट गया। शरीर मिट्टी से सन गया। गाली गलौंच हुई। माँ को पता चला। माँ ने पूछा 'तुमने गालियाँ क्यों दी?'

'उसने प्रथम दी।'

'पहले और बाद में इन शब्दों का कोई अर्थ नही है। गालियाँ अर्थात गालियाँ। तुमने गालियाँ दी। जिसका तुम्हें तिरस्कार है, वही बात तुमने की। फिर तुममें और उस लडके में क्या अन्तर रहा? तुम विद्यालय में जात हो, पढते हो, इसलिये तुम्हारी गलती बडी है।'

'उन्होनें माँ बहन को गालियाँ देना और हमने वह सुन लेना?'

'नही। उसको वैसा न करने के लिये समझाना, नही सुना तो बातें करना बंद करना, या मित्रता छोड देना। तुम उसकी बुराई सीखते हो। पर अपनी अच्छाई उसे नही सिखाते, नही सिखाओगे?'

'माँ, वे बच्चे बहुत बुरे हैं' – 'बेटा, उनके साथ व्यवहार करते समय ही अपनी परीक्षा होती है। अच्छे लोगों के साथ अच्छा ही व्यवहार करेंगे। परंतु नासमझ लोगों के साथ व्यवहार करते समय भी हमने अपना होश सम्भालना चाहिये। कभी भी और किसी भी समय अपशब्दों का प्रयोग नही करना चाहिये।'

दूसरा प्रसंग – भोजन प्रकार में बहुत पसंदगी नापसंदगी थी। एक दिन माँ ने कहा 'तुम भोजन से बहुत झगडते हो।' 'क्या कहा माँ आपने?'

'पसंद नापसंद का अर्थ झगडा ही है बेटा!'

'पर पसंद नही तो क्या करना?'

'पसंद करने का प्रयास करना।'

'पर क्यों?'

'क्यों कि इस तरह की पसंदगी नापसंदगी का अर्थ है प्रत्यक्ष ईश्वर की सृष्टि से झगडा। ईश्वरनिर्मित सभी चीजें सुंदर होती है। अपने भाग्य में जो है उसे पसंद करना सीखो। जैसा वस्तुओं का है वैसा ही व्यक्तियों भी। जो व्यक्ति अपने भाग्य से सम्पर्क में आयेंगे, उनसे प्रसन्न रहकर कार्य करना।

माँ गीताई का प्रेरणा स्वर

भूदान की गंगोत्री पोचमपल्ली से प्रवाहित कर संपूर्ण भारतवर्ष के अनेकानेक किसानों, खेत मजदूरों को कृषि जमीन उपलब्ध करानेवाले विनोबाजी! भूदान यज्ञ के कारण ही उनका नाम सर्वतोमुखी हुआ। विनोबाजी की गीताई अनपढों के लिये नवसंजीवनी सिद्ध हुई। भूदान यज्ञ की कल्पना, गीताई की रचना उनके जीवनसाधना वृक्ष के मधुर फल है।

शुद्ध जीवन, ब्रह्मचर्य पालन की प्रेरणा उन्हें माँ से (सौ. रुमिणी भावे) मिली। विनोबाजी का नाम था – विनायक नरहर भावे। माँ उन्हें प्यार से विन्या कहती थी। वह बडी सात्विक वृत्ति की थी। भोजन करते समय प्रत्येक कौर लेते हुए कहती थी 'गोविन्द' 'गोविन्द'! रोज वह भजन गाया करती थी। विनोबा कहते थे – 'रोज नया भजन गाना माँ!' पुत्र की यह जिद माँ पूरी करती थी। उनके पास मानो, भजनों का भंडार था। दो दो सालों तक एक भजन वह दुबारा नही बोलती थी। कीर्तन आदिसे नये भजन सीखकर वह अपने पुत्र की आध्यात्मिक भूख तृप्त करती थी।

उनकी घरेलू बोलचाल भी कब सुभाषितों का रूप ले लेती पता न चलता। 'भोग से भी त्याग अधिक श्रेष्ठ है' यह उन्होंने बच्चों को सिखाया। जो दूसरों को देता है – वह देव और स्वयं के लिये रखे रहता है वह राक्षस।

प्रायः घर भरापूरा हो – पोते पोती गोद में खेल रहें हो यह हर महिला का सपना होता है। पर माँ उन्हे हमेशा कहती थी – 'उत्तम गृहस्थाश्रम निभाकर पितृऋण उतारोगे पर ब्रह्मचर्यपालन से चालीस पीढियों का उद्धार होगा।' १० वर्ष की आयु में ही विन्या (विनायक जी) ने आजन्म ब्रह्मचारी बनकर रहने की मन में ठान ली और इंटर के पश्चात् उन्होंने घर छोड दिया। इंटर की परीक्षा देने के लिये बडोदरा से मुंबई जाना था। सुरत स्टेशन पर पिताजी के नाम उन्होनें एक पत्र लिखकर मित्रों के पास दिया। परीक्षा समाप्त होने के पश्चात् पोस्ट करने के लिये बताया ताकि वे घर से दूर पहुँच सके। नही तो पिताजी ढूंढ निकालने की आशंका मन में थी। 'कहीं भी रहूंगा पर अनैतिक बातें कभी न करूंगा।' यह आश्वासन उन्होंने पत्रद्वारा माँ पिता को दिया।

पत्र पाने के पश्चात् – 'थोडे दिनों के पश्चात् लौट आयेगा' ऐसी टिप्पणी पिता ने की।

'नही, मेरा बेटा संन्यास लेने के लिये गया है। वह लौटेगा नही।' माँ ने बडे विश्वास के साथ कहा और वह व्यर्थ न था।

पिताजी के संकेतानुसार विद्यालय में उन्होंने फच भाषा ली थी। शोध कार्य की दृष्टि से वह उपयुत है ऐसा उनका मत था। माँ कहती, 'विन्या, तू अंग्रेजी, फच आदि विदेशी भाषाएँ सीखता है, पर संस्कृत नही। अरे, संस्कृत यह ईश्वर की भाषा है। अपने धर्म की भाषा है। वह तुझे आनी चाहिये।'

'हाँ माँ, जरूर सीखूंगा।' विन्या कहता था।

एक वर्ष वाई में रहकर विनोबाजी ने संस्कृत का अध्ययन किया। उपनिषद्, पातंजल योगदर्शन, स्मृति ग्रन्थों का अध्ययन किया। छः माहों में उन्होंने शांकर प्रस्थानयत्री पर अधिकार प्राप्त कर लिया।

माँ गीताई का प्रेरणा स्वर

अनेकानेक ग्रन्थों का अध्ययन करने के पश्चात् भी उनको प्रिय थी गीता। वे कहते थे 'गीताप्रेम मेरी माँ ने मुझे विरासत में दिया है। माँ का पार्थिव मुझे अपार्थिव गीता माँ की गोद में डाल कर इस विश्व से विदा हुआ।' माँ की अर्थी उठी तब भी विनोबाजी शांत मन से गीता पाठ कर रहे थे।

'गीता माँ, मै तेरे दुग्ध से पुष्ट हुआ हूँ और आगे भी तुम्हारे आधार पर ही जिंदगी व्यतीत करना है।' वे मन ही मन बोलते।

गीता धर्मग्रंथ है, वह मुझे समझना चाहिये, ऐसी उनके माँ की इच्छा थी। वे उन्हें कई बार पूछती – 'विन्या, गीता मराठी में नहो है-या? तू मुझे समझा दे – गीता मराठी में बता!' माँ गीता पढ नही पायी यह बात भी काटों की तरह विनोबा के मन को चूभती थी। गीतार्थ के लिये व्याकुल माँ की मूर्ति बार बार आँखों के सामने आती। मेरी माँ जैसी कई माता बहनें इस गीतार्थ के लिये तडपती होंगी! माँ का आर्त स्वर – 'तू मुझे गीता समझा दे' विनोबा को कचोटता रहता।

चिन्तन निदिध्यास के सहारे प्रत्येक शब्द का अर्थ निश्चित करने का प्रयास वे कर रहें थे। ७ अटूबर १९३० से ६ फरवरी १९३१ – ४ महिनों में गीता की मराठी समश्लोकी उन्होंने तैयार की। उसका सीधा सादा नामकरण किया – गीताई।

गीताई माँ मेरी, मै बालक अनजान
गिरते रोते उठा लेती गोदी में

यह भावना गीताई के प्रथम पृष्ठ पर अंकित की है। विनोबा लिखित गीताई मराठी शारदा का अनमोल आभूषण है। सैकडों जीवनों का आधार है। उनकी सांत्वना है।

पुत्र को निरंतर ज्ञानयोग का पथ प्रदर्शन करनेवाली यह माता 'त्वं हि वाणी विद्यादायिनी' को सार्थ करती है।

शौर्य संजीवनी सारंधा

शहाजहान के समय बुंदेलखंड में धसान नदी के किनारे एक किला था। वहाँका राजा था अनिरुद्ध सिंह। वह शूर साहसी था। उसकी सेना भी अनुशासित थी। वह काल बडा कठीन था। बार बार शत्रु सेना आक्रमण करती थी और अनिरुद्ध शूरता से जूझता रहता।

अनिरुद्ध सिंह की एक बहन थी – सारंधा। उसकी भी मातृभूमि पर अपार भक्ति थी। वह हमेशा कहती थी – 'भैया, स्वाभिमान से रहना। यह जीवन क्षणिक है। वीरमरण तुम्हारा नाम अमर करेगा।' अनिरुद्ध की पत्नी शीतलादेवी को यह बात रास न आती। अनिरुद्ध शत्रु सेना की खोज लेने जब पहाडों जंगलों में घूमता फिरता, तो वह नाराज हो जाती थी।

एक दिन अनिरुद्ध देर रात तक घर नही आया। सारंधा और शीतलादेवी बेचैन होकर देख रही थी। अनिरुद्ध आया – कपडे गिले हएं थे। उनसे पानी टपक रहा था।

'भैया, कपडे कैसे गिले हुएं?' 'अपने प्राण बचाते नदी पार करके आया हूँ।' सारंधा ने पुनः पूछा – 'अनिरुद्ध कट्यार कहाँ है?' 'शत्रु ने छीन ली।' – अनिरुद्ध। 'और सैनिक?' – सारंधा। 'धाराशायी हुएँ।' – अनिरुद्ध।

'भैया, जिस भूमि के लिये पूर्वजों ने आत्मयज्ञ किया, वह प्रतिष्ठा, धवल कीर्ति आपने प्राण के भय से मिट्टी में मिला दी?' – सारंधा

सारंधा की प्रताडना से अनिरुद्ध की वीरवृत्ति फिरसे जागृत हुई।

'सारंधा, आज मेरे हृदय में तुमने चेतना निर्माण की। अनिरुद्ध के जीवन में ऐसा अमंगल क्षण फिर कभी न आयेगा। अब मै विजय के साथ ही लौटूंगा या यहाँ मेरा मृत शरीर आयेगा।'

वह वापिस गया और विजयपताका लेकर ही घर लौटा।

शरीर की नही धर्म की रक्षा – ताज कुँवरी

कानपुर के समीप गंगाकिनारे किसोरा राज्य था। वहाँ सज्जनसिंह नाम के राजा राज्य करते थे। राजकुमार लक्ष्मणसिंह के साथ राजकुँवरी को भी

अत्यंत प्रिय थे। 'मुता कितनी नाराज होंगी?' यह सोचकर उन्हें अपने आप पर ही तरस आया। वे रो पडे। घर पहुँचते ही उन्होंने झोपडी के दरवाजे बंद कर लियें। सोपान, निवृत्ति दादा ने दरवाजा खटखटाया परंतु अंदर से कुछ उत्तर नही मिला। मुता नदी से पानी लेकर आयी, तो दोनों भैया चिन्तित दिखायी दिये।

'या हुआ भैया?' मुता ने पूछा।

सोपान ज्ञानेश्वर के साथही थे, उनसे सारी बातें पता चली।

'ज्ञानेश भैया बोलते है, मुझे जीना नही है। अब मेरा दम घुट रहा है, इस दुनिया में। मुता, तुम समझाओ। तुम्हारी बात भैया टालते नही।'

मुता ने दरवाजा खटखटाया। परंतु रोज उनके लाडदुलार करनेवाले ज्ञानेशभैया आज मौन ही रहें। पर मुता उन्हें समझाती रही। बडी मार्मिकता से उसने कहा – 'भैया, हम तो समझदार लोग हैं। हमने अपनी विशेषता तो रखनी ही हैं। नाराज होकर-या लाभ? और जिनपर नाराज हुए हो, वे भी तो अपने ही है। विचारशक्ति कम है उनकी। भैया, विश्व यदि अग्नि

बन गया तो हमे पानी बनकर उसे शांत करना होगा। हम्यों उसकी उष्णता अपनायें? यह समाज अपना ही है। कई बार भोजन करते समय दातों तले जीभ आ जाती है तो्या कभी किसीने दांत उखाड फके हैं? जीभ को सहलाते है बस! वैसे ही अभी करना।'

मुता के इन शब्दों से ज्ञानेश्वर के मन में विचारों की लडें फ़टने लगी। उस आतिषबाजी से आँखे कौंध गयी। 'हम हमेशा कहते हैं एक परमेश ने ही अनेक रूप धारण किये हैं। इस रूप में भी प्रभु, उस रूप में भी प्रभु – आकार अलग। अतः नाम भिन्न। मुझे नाराज नही होना चाहिये। झोपडी के पट खुल गये। दोनों भाई–बहन गले मिलें।' मुता के ये विचार 'ताटीचे अभंग' इस नाम से प्रसिद्ध है।

पंजाब में जिनकी मान्यता है ऐसे महाराष्ट्र के संत नामदेवजी के गुरु विसोबा की भी गुरु मुताई है। १४०० वर्ष के चांगदेव को भी उन्होंने बोध किया – आत्मज्ञान दिया। एक दिन वह नदी में स्नान कर रही थी। चांगदेव जी भी उसी समय स्नान करने आयें। दूर से ही उसे स्नान करते देख कर वे मुड गये। तो मुताई ने आवाज दी 'अजी, रोज आप आते हैं, तो इतनी भैंसे स्नान करती रहती है – तब कभी लौटे हो? फिर आज लौटने की्या आवश्यकता है? अभी तक मन का यह स्त्री शरीर है – यह भाव अर्थात् विकार दूर नही हुएँ।' चांगदेव जी यह सुनते ही ठूंठ जैसे खडे हुएँ। उन्हे लगा व्यर्थ ही हुआ आज तक का जीवन! उन्होंने मुता की शरण ली।

जरत्कारु

स्त्री देहली पर रखे हुए दीपक जैसी है। देहलीदीपक घर–आंगन प्रकाशित करता है। स्त्री अपने माँ का घर और ससुराल दोनों को आलोकमान करती है।

जरत्कारु इसका उदाहरण है। जरत्कारु नागराज वासुकी की छोटी बहन थी। वह लाड प्यार में पली। अपने पितरों के उद्धार हेतु केवल वंशवृद्धि के लिये जरत्कारु ऋषी विवाह के लिये तैयार हो गये। ऋषी जरत्कारु के साथ वासुकी ने अपनी बहन का विवाह कर दिया। बडा संजोग था कि, दोनों पतिपत्नी का नाम एक ही था। और दोनों अपने वंश के रक्षणार्थ एक द्सरे से बंध गयें। मुनी होने के कारण जरत्कारु को घरगृहस्थी में कोई रुचि नही थी। केवल पितरों को तृप्त करने हेतु संतान चाहिये थी। संतान प्राप्ति तक वे इस बंधन में रहनेवाले थे। यह उनके मन की बात थी। दूसरी ओर नागवंश को शाप था 'उनका कुल जनमेजय के सर्पयज्ञ में स्वाहा होगा। केवल जरत्कारुपुत्र उन्हें बचा सकता है।' बात साफ थी – नागवंश को सश्चत नेतृत्व की आवश्यकता थी और उसके लिये दो जीवन – एक तपःपूत और एक त्यागी एकत्र आये हुए थे।

''जरत्कारु ने मुझे अप्रिय होनेवाला कार्य किया तो मै तत्काल उसका त्याग कर निकल जाऊंगा।'' विवाह के समय जरत्कारु मुनी ने वासुकी को स्पष्ट किया। वैसे भी उग्र जरत्कारु के साथ गृहस्थी निभाना अतीव कठिन था। परंतु अपने मधुर स्वभाव से जरत्कारु ने उनका मन मोंह लिया। दोनों सानन्द रहते थे।

एक दिन जरत्कारु अपनी पत्नी की गोद में मस्तक रखकर सो गये। सूर्यास्त होने ही वाला था। मुनी का संध्यावंदन का समय हो गया। जरत्कारु के सामने धर्मसंकट खडा हो गया। 'जगाने से रुष्ट हो कर मेरा परित्याग कर स्वामी चलें जायेंगें। ना जगाऊंगी तो उनका संध्यावन्दन का नित्यकर्तव्य भंग हो जायेगा।्या करू?' अन्त म पति की कर्तव्यच्युतता उनके जीवन को कलंकित करेगी। मेरा कर्तव्य है उनको कर्तव्य पथ से च्युत न होने देना।' उसने पति को जगाया।

''नाथ, सूर्यास्त हो रहा है।'' हलकी आवाज में जरत्कारु ने कहा ''स्नान संध्या का समय हो रहा है। अग्निहोत्र की बेला हो रही है।''

जरत्कारु का यह कहना अग्नि पर पद रखने जैसा ही था । ऋषी उठे। नित्य कर्म किया और उन्होंने पत्नी से कहा 'मेरा अपमान किया तुमने। अपनी प्रतिज्ञानुसार यहाँसे जा रहा हूँ।'

पत्नी को उन्होंने बताया, 'जरत्कारु, मै आपके वंश में सुखपूर्वक रहा हूँ। मै हमेशा उनके कल्याण की कामना करूंगा।' ऋषी की आंखें नम हो गयी। आवाज में भी भारीपन था।

गर्भवती पत्नी का त्याग कर महर्षि जरत्कारु चले गये। जरत्कारु ने बडी दक्षता से अपनी संतान का पालनपोषण किया। उसका नाम आस्तिक। आस्तिक ने नागवंश की रक्षा की।

वंदनीया मौसीजी के श्रद्धांजलि की सभा में परम पूजनीय बालासाहब जी ने कहा था – हम सेविकाओं से भी आशा रखते है की यदि पति–पत्नी घूमने गये, श्याम हो गयी तो सेविका ने कहना चाहिये 'शाखा का समय हो गया है, मै जा रही हूँ, आप भी शाखा में जाईयें।'

महिलाएँ जरत्कारु जैसी कर्तव्यबोधक हो यही तात्पर्य है।

रत्नावली

श्रीरामचरितमानस तुलसीदास जी का अत्यंत मधुर काव्य है। श्रीरामकथा अतीव मधुर, उसमें श्रीतुलसीदास जी की वाणी से मूलतः मधुर स्वाद को मानो नाद एवं गंध प्राप्त हुआ हो। तुलसीदास जी स्वयं को गोस्वामी मानते थे। गोस्वामी अर्थात् इंद्रियों के स्वामी। एक इंद्रियाधीन व्यक्ति को गोस्वामी बनाया था रत्नावली ने – उनकी पत्नी ने।

तुलसीदास शैशव से माता पिता से वंचित हुएं। एक साधू ने उनका लालनपालन किया। योग्य समय पर उनका विवाह हुआ। उनकी पत्नी रत्नावली रूप–गुणों की खनी थी। पत्नी से स्वाभाविक ही आत्यंतिक अनुराग हो गया। उनके बिना क्षण क्षण उन्हें युग युग जैसे लगता था।

एक दिन तुलसीदास जी कुछ कारण के लिये बाहर गये थे। रत्नावली का भाई उसे लिवाने आया। रत्नावली को मायके जाने की प्रबल इच्छा थी। अतः संदेश लिखकर वह भाई के साथ चली गयी। तुलसीदास जी देर रात लौट आये। घर में रत्नावली नही थी। घर में रहना उनके लिये असंभव हुआ। अब-या करें? धुंआधार बारिश हो रही थी। पत्नी का वियोग हर क्षण उनको अधिक व्याकुल करता रहा। भावनाओं पर नियंत्रण उनको असंभव हो गया और उसके बिना तो पल पल कठिन हो रहा था। तुलसीदास जी ससुराल की राह पर निकल पडे। रास्ते में नदी थी। वह किसी नागिन जैसी फ्फ् कर रही थी। प्रचंड गति थी। उसका रौद्र रूप मन को थर्रा देता था। पर तुलसीदास जी सुधबुध खो बैठे थे। उनपर एक ही धुन संवार थी। रत्ना के पास पहुँचना। वैसे ही उन्होंने छलांग लगायी। गोते खाने लगे। उतने में हाथ में कुछ आया, उसे पकडकर किनारे लग गये। बाद में पता चला वह लाश थी। ससुराल पहुँचे तो थोडा लज्जाभाव मन में निर्माण हुआ। आधी रात अंदर कैसे जायेंगे? थंड से ठिठुर रहे थे।

ओह! रत्नावली के कमरे से एक बडा रस्सा नीचे लटक रहा था। प्रेमीमन ने सोचा कि, 'रत्नावली भी मुझे चाह रही है। उसे पता होगा मै आऊंगा ही। उसने रस्सा छोड रखा है।'

उसे पकडकर वह रत्नावली तक पहुँचे।

''प्रिये'' उन्होंने रत्नावली को जगाया। रत्नावली उन्हें ठगी सी देखती रही। उसकी आंखो में हलकी सी तरलता आ गयी। ''कैसे आये आप इस समय?'' ठंड के मारे ठिठुरते पति को देखकर वह हैरान हो गयी। उनके कपडों से पानी टपक रहा था।

''पहले नदी पार की एक लाश के सहारे। यहाँ तुमने तो कमंद रखा है।'' – तुलसीदासजी।

''कमंद, कहाँ और कैसे?'' रत्नावली दीपक ले कर बाहर देखने गयी और चीख उठी। ''भगवान'' एक बडा सर्प लटक रहा था। वह नखशिखांत सिहर उठी।

''इस अस्थिचर्ममय देह का इतना अनुराग! रघुनाथ जी का अनुराग करोंगे तो आत्मसुख पावोंगे। यह देह तो दुख, ममता, मोह के बिना कुछ नही देता। कहीका ना रखेगा आपको।'' – रत्नावली ने कहा।

तुलसीदास जी मौन के सागर में डूब से गये थे। उन पर, मानो घडों पानी पडा। पत्नी के शब्दों ने उनका मन पलट दिया। उनकी दिशा भी बदल दी। वह पश्चिमी दिशा निवृत्ति की राह पर चल पडे। रघुनाथ जी की आसक्ति ने उन्हे भक्त बना दिया और उस भक्त ने हजारों भक्तों को बनाया। उनका जीवन संवारा।

रत्नावली के शब्दों से तुलसीदास का जीवन ही बदल गया। उसने एक नया इतिहास रचाया।

देवी अमरो

देवी अमरो अपने कृतीत्व से सचमुच अमर हुई। देवी अमरो एक ललामभूत स्त्रीरत्न है। सिखों के तृतीय गुरु अमरदासजी हिन्दु धर्म को अमरो की ही देन है।

देवी अमरो अत्यंत श्रद्धालु थी। धार्मिक भावना मन में कूट कूट कर भरी थी। सिख गुरु अंगद जी की पुत्री होने के कारण नसनस में प्रेम, भक्ति का लहू बह रहा था। अमरो का विवाह अमरदासजी के साथ हुआ। अमरदासजी का स्वभाव अमरो से विपरीत था। अमरो धर्मप्रधान तो अमरदासजी धर्म की अवहेलना में धन्यता माननेवाले। कोई और व्यक्ति होता तो रोज महाभारत ही हो जाता। अमरो निरंतर प्रभु से शुद्ध अंतःकरण से प्रार्थना करती थी 'हे प्रभो, मेरे पति के मन में धर्म की आस्था निर्माण हो। मन में भक्ति का उदय हो।'

अमरो का व्यवहार अत्यंत नम्र था। वाणी में मिठास थी। जब वह बातें करती तो ऐसा लगता घंटों तक उसकी बातें, वाणी सुनते रहें। अमरदासजी अमरो की ओर काफी आकर्षित हुए थे। अमरो को लगता था, ''मैं क्यों इनका आकर्षण? आकर्षण विषय प्रभु परमेश्वर रहे।''

भोजन परोसते समय या अन्य कोई काम करते समय भी अमरो सहजता से धर्म की महत्ता भजनों में, बातों में वर्णन करती थी। अमरदास मुग्ध हो जाते थे। अनेक धर्मकथाएँ उसे ज्ञात थी। अत्यंत प्रेम, सात्विक भाव से मार्मिक ढंग से सुनाती थी। अमरदास मंत्रमुग्ध होकर उसे सुनते रहे। धीरे धीरे वे भी उसके मनोभाव से एकाकार होने लगे। वही शुद्ध भाव उनके मन में प्रस्फुटित होने लगे।

अमरो रोज भोर में स्नानादि से निवृत्त हो कर प्रभुस्मरण में खो जाती थी। ऐसी ही एक प्रसन्न प्रभात आयी। सूर्यरश्मियाँ अपनी आभा से धरातल को सुस्नात कर रही थी। पवन धीरे धीरे बह रहा था। पक्षी विहार कर रहे थे। और अमरो स्वयं की सुधबुध खोकर प्रभु के भजन गा रही थी। उनकी वाणी से स्वर नही अमृत लहरें वायुमण्डल में फल रही थी। ''अमरो, फिरसे सुनाओ भजन, इन मधुर, अमृत घोले शब्दों ने मुझे तृप्त कर दिया है। अबसे मै भी भगवद्भजन करूंगा।'' अमरदासजी ने कहा।

''जी, अभी सुनाती हूँ।'' अमरो मन ही मन फ़ली न समायी। अमरो फिर से गाने लगी। आज उसके आनन्द की कोई सीमा नही थी। अमरदास भी झूम रहे थे। आगे चलकर वे सिखों के तीसरे गुरु बने। अमरो ने अपने पति के अंतःकरण में भक्ति का दीप प्रज्वलित कर दिया और इस प्रकार वह अपने कृतीत्व से सचमुच अमर हुई।

संयोगिता

भारत के इतिहास में पृथ्वीराज–संयोगिता इस दंपती का अपना एक विशेष स्थान है। पृथ्वीराज शौर्य–धैर्य की साक्षात् प्रतिमा। महंमद घोरी के साथ उसके भयंकर युद्ध हुए। घोरी को उसने नाको चने चबवाए।

ठाणेश्वर के निकट पृथ्वीराज जब घोरी से दुबारा लडने गये, संयोगिता ने पति को भीमवेष परिधान कराया और मंगल तिलक करते समय उसने कहा ''नाथ, मरण यह मनुष्यों की ही नही अपितु देवताओं की भी प्रकृति है। वस्त्र जीर्ण हुआ कि बदलने की इच्छा होती है। वीरमरण ही अमरत्व देता है। देह नश्वर – क्षणभंगुर है। इसका क्या विचार करना? आप अमरत्व

का मार्ग अपनाईये। आपकी तलवार से शत्रु छिद्रान्वित हो। आपकी सहधर्मचारिणी इस नाते मै भी कर्तव्य निभाऊंगी।'' और उसने वह बखूबी निभाया।

दिलवारा मंदिरों की प्रेरणा – अनुपमा

अनुपमा का चरित्र यथार्थ में अनुपमेय है। अबू के चन्द्रावती नगरी में रहनेवाली धरणीय व्यापारी की यह कन्या। अनुपमा का विवाह धोतरा के वीरधवल राजा के मंत्री तेजपाल के साथ हुआ। तेजपाल का एक भाई था – वस्तुपाल। दोनों बंधु अत्यंत शूर एवं राजनीतिज्ञ थें। अनुपमा का भी साहित्य एवं तत्त्वज्ञान का विशेष अभ्यास था। सभी विद्वान उसे 'षड्दर्शनमाता' इस उपाधि से सम्मानित करते थे। किसी भी महत्त्वपूर्ण प्रश्न में दोनो उससे विचारविमर्श करते थे।

एक दिन ये तीनों सौराष्ट्र के लिये निकलें। 'हडालक' (कर्णावती जिले में धंधुका के निकट का हडाला) में आते ही दानों बंधुओं ने अपने पास की लगभग एक लाख रुपये कर्ज की राशि जमीन में छुपाकर रखने का निर्णय लिया। परंतु आश्चर्य की बात यह कि धन छिपाते ही उन्हें और भी गुप्त धन प्राप्त हुआ।

'अनुपमा, इस अनगिनत धन का.या करें?' तेजपाल ने पूछा।

''अपनी सभी संपत्ति पर्वत चोटियों पर रखेंगें ताकि किसीके हाथ न लगे। अर्थात् इस सम्पत्ति को मंदिरों के निर्माण कार्य में लगायेंगें।'' अनुपमा ने नेक सलाह दी। अनुपमा के कथनानुसार शीघ्र ही अबू और गिरनार मंदिरों का निर्माण कार्य प्रारंभ हुआ। 'शत्रुंजय' दर्शनार्थ जानेवाले यात्रियों के लिये माग बनाये गयें। निर्माणकार्य पर अनुपमा स्वयं देखरेख करती थी। कारागिरों के लिये निवास एवं खानेपीने की अनेक सुविधाओं की व्यवस्था की।

वस्तुपाल और तेजपाल द्वारा निर्मित अनेक निर्माण कार्यों में अबू–गिरनार के कार्य ही अस्तित्व में है। अन्य सब कालगर्भ में समा गये।

कलाकारिता एवं नक्षीदार, नाजुक खुदाई काम के विषय में अबू के अद्वितीय दिलवारा मंदिरों की प्रेरणा अनुपम है।

हाडा रानी

राजमहल में चूडावत वीरवेष धारण कर रह था। बाहर रणवाद्य बज रहे थे। अत्यंत प्रिय रणवाद्य आज चूडावत को कर्णकटु लग रहे थें। मन चंचल हो उठा । आज मन में युद्ध के विचार ही नही आ रहे थे। मन उसकी नवविवाहित पत्नी हाडा के पास मंडरा रहा था। हाडा रानी थी भी सुंदर, मनभावन! 'युद्ध पर जाऊंगा और धराशायी होऊंगा तो रानी सहगमन करेंगी। यह अनुपम सौंदर्य जल कर खाक हो जायेगा या मुस्लिमों के हाथ लगेगा।.या करू – एकलिंगजी.या करू?' अंदर तूफान थम नही रहा था।

''आप निकल रहें है न? बाहर सेना रुकी हुई है'' रानी ने से सचेत करते हुए कहा।

''नही, मै नही जाऊंगा।'' चूडावत ने उत्तर दिया।

उसे लगा रानी खुश होगी अपना प्रेम देखकर, परंतु रानी ने उसकी निर्भत्सना की। ''आप महल में विश्राम कीजिये। मै जाऊंगी शत्रु का सामना करने।''

चूडावत ने रानी की शौर्य की आग को भांपा, उसकी वाणी की ज्वाला को परखा। क्षणभर सिहर उठा, यह शब्द कांटे जैसे चूभें। रानी ने पंचारती उतारी, चूडावत युद्ध के लिये निकल पडा।

सांझ घिर आयी। च्डावत छावनी में बैठा, रानी हाडा की यादों में खो गया। प्रतिपल उसकी व्याकुलता बढने लगी। मन का घोडा बेलगाम दौडने लगा। कुछ प्रतीक तो लाना चाहिये था रानी से, जिसके सहारे रात कट जाती।

अपने एक विश्वासू सैनिक को उसने तुरंत हाडा रानी के पास भेजा।

''जाओ, रानी से कुछ प्रतीक – निशानी ले आवो।''

'जी' कहते हुए वह सैनिक घोडे पर संवार हुआ। हाडा रानी के पास जाकर उसने राजा का संदेश सुनाया। रानी के कलेजे पर सांप लेट गया।

''अरेरे! इस यत्किंचित देह के लिये राजाजी इतने पागल हो गये है? यही विचार इनके मन पर संवार रहा तो विजय शत्रु की होगी। कुल की कीर्ति कलंकित होगी। राज्य नष्ट होगा।ऱ्या करू?''

रानी की आंखें तरल हो उठी। अचानक उसकी दृष्टि तलवार पर गयी। सेवक को उसने कहा ''मै निशानी देती हूँ, उसे ले जाओ।''

उसने क्षणमात्र में अपना सिर अलग किया। सेवक ने सिर हाथ में लिया और छावनी की ओर चल दिया। सेवक चूडावत के पास पहूँचा। उसकी आंखें फटी फटी रह गयी। मानो, नशा उतर गया। अपनी प्रिय पत्नी का सिर उसने हाथ में लिया – क्षणमात्र निहारा – उसको लगा यह रानी का सिर नही काली का सिर है। शत्रुमर्दन के लिये आमंत्रित कर रहा है। रानी के विपुल केश के दो भाग कर वह सिर अपने गले में बांध लिया। उसकी आंखों में क्रोध की चिनगारियाँ छिटक उठीं। वह बडे शौर्य से शत्रु पर टूट पडा। युद्ध देवता ने एक और बलि ली।

स्वयं के प्राणार्पण से कुल की कीर्ति अक्षुण्ण रखनेवाली, पति के मन में पराक्रम, विजय की आकांक्षा जगानेवाली हाडा रानी धन्य है।

हिराईसा

पंडित दामोदरजी आचार्य नागदेवजी के शिष्य थे। गोदावरी तट पर निंबगाव नाम के एक गांव में रहते थे। उनकी पत्नी का नाम था हिराईसा। वह विश्रत वृत्ति की और भ्रतिपरायण थी। उसकी दो संताने थी। एक बेटा और एक बेटी। एक बार बेटी बीमार हो गयी। उसी समय आचार्य नागदेवजी घर आये थे। हिराईसा फ़ली न समायी। उन्होंने नागदेवजी का स्वागत किया। बडे प्यार से उन्हें भोजन खिलाया। कुछ समय पश्चात् हिराईसा की बेटी ने दम तोड दिया।

इस घटना ने उसके जीवन को नया मोड दिया। दामोदरजी की अनुमति से उन्होंने संन्यास लिया। पत्नी की उत्कटता देखकर दामोदरजी ने कहा 'पुत्र के विवाहोपरान्त मै भी संन्यास लूंगा।'

कई वर्ष बीत गयें। पुत्र का विवाह हो गया। परंतु दामोदरजी गृहस्थी का मोह त्याग नही पायें। पति भी संन्यास लेगा, यह आशा विफल होते देख हिराईसा के कलेजे पर मानो वज्रपात हुआ। एक दिन उन्होंने संदेश भेजा 'जिस चुल्हे पर पकी हुई रोटी खायी,ऱ्या उसकी राख भी खाओगे?'

संदेश मिलते ही पंडितजी सचेत हुएं। शीघ्र ही उन्होंने संन्यास दीक्षा ली। दामोदरजी श्रेष्ठ संगीतज्ञ थे। महानुभाव पंथ में संगीत प्रतिबंधित था। परंतु उनकी रुचि देखकर उनके गुरु ने संगीत की अनुमति दी। संगीत के माध्यम से उन्होंने अपने पंथ का बहुत प्रचार किया। महानुभाव साहित्य में दामोदरजी का अपना एक विशेष स्थान है। उसके पीछे प्रेरणा है हिराईसा की।

लकुमा

१४ वी शताब्दि में आंध्र की राजधानी कोंडविरी में राजा कुमारगिरी रेड्डी राज्य करते थे।

एक वर्ष पूनम के अवसर पर उत्सव में देवदासी लकुमा का नृत्य हुआ। अपनी नृत्यकुशलता से उसने सभी को आनन्द से सरोबार कर दिया। राजा उसके अनुपम सौंदर्य और अर्थपूर्ण आविष्कारों से अतीव प्रसन्न हुआ। लकुमा अब राजनर्तकी बनी। धीरे धीरे राजा उसके प्रेमजाल में फसता गया। अधिक से अधिक समय उसके महल में व्यतीत करने लगा।

राजकर्तव्य से विन्मुख होने लगा। राजदरबार में जाना भी अनियमित हुआ। राज्य में अव्यवस्था होने लगी। सामंत राजा नाराज हुएं। शत्रु पुरजोर बनने लगें। राजा हरहरायलु सिंगभूपाल ने कुमारगिरी के राज्य पर आक्रमण किया। स्वामिभ्रत प्रधानमंत्री कारमेलोमा अकेले ही परिस्थिति से जूझते रहें।

प्रधानमंत्री को स्वयं युद्ध पर जाना पडा। एडी चोटी एक कर उसने विजय प्राप्त की। तत्पश्चात् महारानी और प्रधानमंत्री दोनोंने राजा को समझाने का प्रयास किया। परिणावश राजा काफो समय के पश्चात् राजसभा में उपस्थित रहे। थोडे ही समय में सेवक ने आकर बताया – 'लकुमा सीढियों से गिर गयी। पैर में चोट आयी।'

राजा दरबार अधुरा छोड चले गये। यह तो दरबार का, मंत्रीगण का, प्रजा का भी अपमान था। लोग आगबबूला हो उठे।

परिस्थिति बेकाबू होते देख रानी ने मन ही मन निश्चय किया और स्वयं लकुमा को मिलने गयी। उनकी स्वयंकी गृहस्थी तो पूरी तरह से उजड चूकी थी। राजा का सदैव लकुमा के पास रहना उनके नारीत्व का अपमान था। परंतु वह व्यथित हुई प्रजाजन की अवहेलना से। उनके पति – राजा, के बेरुख व्यवहार से।

''लकुमा, तुम राजा की प्रिय हो। प्रेम ऐसा हो जो अपने प्रिय का हित करे। उसे सुखी बनाये। परंतु तुम्हारे प्रेमबंधन में बंदी राजा ने अपने कर्तव्यों के सभी बंधन तोड दिये है। वे अब मुझसे धर्मपत्नी जैसा व्यवहार नही करते। परंतु मुझे उसका उतना दुख नही हैं, जितनी वेदना उनके राजकर्तव्य से आनाकानी करने की है। राजा इस नाते राज्यरक्षा, प्रजाहित उनके लिये सर्वोपरि होना चाहिये। आज अपना कर्तव्य वे भूल गये है। अतः प्रजा नाराज है। राजा का सम्मान संकट में है। उनकी कर्तव्यच्युति से देश भी संकट में है। अतः अपने प्रिय को कर्तव्य की राह दिखाना तुम्हारा कर्तव्य है। बोलो लकुमा! प्रेम का आव्हान स्वीकारोगी?'' महारानी ने लकुमा से कहा।

'जी' रानी के इस छोटे सवाल से उसके राजा, प्रजा तथा लकुमा के प्रति अपनत्व की गंध से लकुमा का अन्तर महक उठा।

लकुमा विचारमग्न हुई। ;'या करू? यहाँ से चली जाऊं? परंतु महाराज के बिना मै कैसे जी सकूंगी? पल पल मुझे उनकी याद आती रहेगी। और ना जाऊं तो? मेरे कारण वे कर्तव्य की ओर ध्यान नही देंगे। उनकी बेइज्जती होंगी। यह भी तो ठीक नही।?'

उसने विचारपूर्वक एक योजना बनायी। राजा से शिवतांडव नृत्य की अनुमति मांगी। ;तरंग के वेष में सजधजकर तरह तरह के अलंकार धारण कर नृत्य प्रारंभ किया। नृत्य की थिरकनें तेज होती गयी और वह क्षण आया। लकुमा ने एक तीक्ष्ण कट्यार से वक्ष चीर लिया। राजा देखता ही रह गया – लकुमा के प्राणपखेरू अनन्त में समा गयें।

शोकविव्हल राजा लकुमा को लिपटकर रोने लगा। लकुमा के द्वारा लिखित एक पत्र राजा को मिला – 'राजन्, मेरे मोह से आप कर्तव्यच्युत हुएं। मोह का कारण मै नष्ट कर रही हूँ। आप कर्तव्यपथ पर चलें, यही प्रेम का प्रतीक होगा। प्रेम से भी कर्तव्य अधिक महत्वपूर्ण है।'

महारानी और लकुमा दोनों बनी राजा को कर्तव्यपथ दिखानेवाली दो ज्योतियाँ!

गौतमाबाई होळकर

पानिपत की घनघोर लडाई – इतिहास में बहुत महत्त्व रखती है। हजारों वीरों की इस यज्ञकुंड में आहुतियाँ चढी। होळकर व शिंदे लडाई के आधारस्तंभ थे।

दत्ताजी शिंदे की युद्धदेवता ने बलि ली। जनकोजी घायल हुएं। यह समाचार मल्हाररावजी को प्राप्त हुआ, तब वे कोटपुतला में थे। सेना युद्ध के लिये पूरी तरह से सिद्ध हुई थी। रणवाद्य बज रहे थें। मल्हाररावजी पालकी में बैठे थे। जैसे ही

दत्ताजी ने वीरगती प्राप्त करने का संदेश मिला, तब रणवाद्य रुक गये। मल्हारराव‌जी पालकी में संवेदनाशून्य अवस्था में बैठे थे।

गौतमाबाई अपने तंबू में थी। अचानक वाद्य-यों रुक गयें, यह देखने के लिये वह युद्धभूमि पर आयी। पति की व्याकुल अवस्था देखी। मल्हारराव की शोकविव्हलता स्वाभाविक थी। किन्तु इतने पराक्रमी सरदार ने हिम्मत हारना, किंकर्तव्यमूढ बनकर बैठा रहना! गौतमाबाई यह सहन न कर सकी। अपने पति को शोकविव्हल देखना उनके लिये कठीन था। यों ये हिम्मत हार गयें?

'यह मृत्युलोक है। यहाँ जो आया उसकी एक दिन मृत्यु निश्चित ही है। फिर जो बलि चढें उनके लिये इतना शोक यों? हमें भी मरना ही है अतः धैर्य से शत्रु को मारते मारते मरने में ही जीवन की सार्थकता है।' गौतमाबाई ने कहा।

पत्नी के यह शब्द सुनते ही मल्हारराव‌जी के हृदय में शोक के स्थान पर प्रतिशोध की ज्वाला धधक उठी।

''आपके मन में हमारी मृत्यु की इच्छा है?''

'जी नही, हर सुहागन महिला को अपना सौभाग्य प्रिय है। वैधव्य की इच्छा वह कभी भी, किसी भी स्थिति में नही करेगी। आपने गडरिया का अपना व्यवसाय छोडकर ढाल तलवार हाथ में ली। क्षत्रिय धर्म का स्वीकार किया। अतः आपका व्यवहार भी नित्य उसी धर्म को गौरवान्वित करनेवाला हो, यह मै चाहती हूँ।' – गौतमाबाई बाली।

मल्हारराव और गौतमाबाई सिंधिया की छावनी में गयें। गौतमाबाई ने सबको सांत्वना दी। उस समय भागीरथीबाई के पांव भारी थे। अतः उन्हे वापिस भेजने की योजना बनी।

परंतु उनको पहुँचाने कौन जायेगा? जनकोजी को या मल्हारराव‌जी को चाचा के साथ हुए दुर्व्यवहार का प्रतिशोध लेना था। चाची ने उसका वीरभाव जाग्रत किया था।

'मल्हारराव‌जी वृद्ध है। वे लडेंगे और मै चाची के साथ जाऊं? नही ये नही होगा।' उसने मल्हारराव‌जी से कहा।

''आप ही महिलाओं–बच्चों को संभालिये।''

मल्हारराव‌जी भी हाँ कहनेही वाले थे तो गौतमाबाई फिर से बोली ''सचमुच आपकी बुद्धि सठिया गयी है। होळकर युद्ध से पीछे हट गये है यह अपकीर्ति आप साथ लेके जायेंगें? यह बची हुई कलंकित आयु आप जीयेंगे? जनकोजी बालक होते हुए भी उसकी हिम्मत देखो और आप यह-या कर रहे हो? स्त्रियों को और बच्चों को किसी विश्वासार्ह व्यक्ति के साथ भेज सकते है। उनके लिये स्वयं शिंदे और होळकर ने जाने की-या आवश्यकता है?'' गौतमाबाई ने दोनां को निरुत्तर किया। शिंदे और होळकर दोनों ने अभूतपूर्व पराक्रम किया।

पति को निरंतर कर्तव्य की प्रेरणा देनेमें गौतमाबाई तत्पर थी।

पति का होश संवारनेवाली, उसे सही दिशा देनेवाली महिला ही पत्नीधर्म यथार्थ में निभाती है।

थूंक चाटते नहीं

हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री. महावीरप्रसाद द्विवेदी के जीवन की एक घटना अपने आप में बडी रोचक है। लेखकजी जीवन के आरंभ काल में सरकारी नौकरी में थे। ब्रिटिशों का व्यवहार उन्हें पीडा देता था। मन में अपने देश को गुलाम बनानेवालों के लिये चीढ थी। अत्याचारों से मन ऊब गया था। नौकरी में भी वे ऊब ही गये थे। एक दिन साहब से कुछ बातचीत में संघर्ष हुआ, बातें हुई। झटके में उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। मै स्वयं दिनरात खटता हूँ .... पर इसके कहने से अपने कर्मचारियों पर अन्याय करूँ? .... नही चाहिये मुझे ऐसी नौकरी।' ऐसा उन्होंने सोचा।

घर में उन्होंने पत्नी को बताया ''मैने आज त्यागपत्र दे दिया है। हमको कम आय में घरखर्च निभाना होगा।''

''जी, चिन्ता न कीजियेगा।'' पत्नी ने आश्वासन दिया। चंद दिनों में ही उन्हें त्यागपत्र वापस लेने का अनुरोध किया गया.यों कि उनकी काम करने की पद्धति सचमुच ही बडी सुंदर थी। लेखक महाशय सोच में पडे – या किया जाय? उन्होंने पत्नी से पूछा।

''थूंकी हुई थूंक चाटा नही जाता।'' अविलम्ब उन्होंने दो टूक उत्तर दिया।

लेखक महाशय फिर नौकरी पर नही गयें। उसके कारण जो भी आर्थिक कठिनाईयाँ झेलनी पडी, वे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर ली।

आर्थिक स्थितिसुधार हेतु मित्रों के आग्रह पर उन्होंने एक उपन्यास का लेखन किया। वाचन हुआ तो मित्र कहने लगे, 'यह तो तात्विक हो गया। यह न बेंचा जायेगा, न पैसा मिलेगा।'

फिर उनमें चर्चा हुई। उसके अनुसार नयी पुस्तक लिखी गयी। हलकी फ़लकी। मित्र ने कहा 'हाँ, ये ठीक है।' लेखक जी चाहते थे कि प्रकाशनपूर्व यह पुस्तक पत्नी को पढने के लिये दें। परंतु मन में भय था कि यह पुस्तक उसे पसंद नही आयेगी। उन्हें फिर भी उसे दिखाये बिना पुस्तक छपवा देना भी अच्छा नही लग रहा था।

''नयी पुस्तक लिखी है, जरा पढ लेना।'' एक दिन उन्होंने पत्नी को बताया।

'जी, मैने पढ ली है। केवल रंजन करनेवाली पुस्तक आपको शोभा नही देती। आप जैसे लेखक का कर्तव्य है समाज शिक्षण, केवल हलका फ़लका समाज रंजन नही। मैने वह संदूक में रख दी।' पत्नी ने कहा।

मित्रों ने बहुत आग्रह किया किन्तु पुस्तक प्रकाशित नही हुआ।

कालक्रम में पत्नी का देहान्त हुआ। लेखकजी को लगा सब कुछ लूट गया है। मृत्युके पश्चात् चंद घण्टों में ही अर्थी उठाने की तयारी हुई।

''रुकिये एक क्षण – मै अभी आता हूँ।'' लेखक महाशय भीतर गये। अनेक प्रश्न अनेकोंके मन में उभर आये।

वे वापिस आये हाथ में कुछ कागज लेकर और पत्नी के सिरहाने रख दिये।

''वही पुस्तक तुम्हारे साथ ही अग्नि के स्वाधीन हो तो अच्छा होगा। अन्यथा वह पुस्तक प्रकाशित करने का मोह होगा। उस समय रोकनेवाली – मोह से खींचनेवाली तुम मेरे साथ नही होंगी।'' और वे फ़ट फ़ट कर रोने लगे।

जयप्रभा

श्री. जयप्रकाशजी और उनकी पत्नी प्रभा जी का सहजीवन अनोखा ही था। बाल आयु में दोनों का विवाह हुआ। गौना होने के पूर्व ही जयप्रकाश जी स्वाधीनता संग्राम से जुडने के कारण कारागृह गये। कई दिनों तक दोनों मिल भी नही पायें – गृहस्थी जीवन प्रारंभ ही नही हुआ। अब प्रभा जी भी धीरे धीरे आन्दोलन की धारा में आ गयी।

जयप्रकाश जी कारागृह से लौट आयें – प्रथम भेट में प्रभाजी ने स्पष्ट किया की 'अब मै सर्वोदय के विचारों से प्रभावित हूँ। मैने ब्रह्मचर्य से रहना स्वीकार किया है।' दोनों मित्र की भांति एकसाथ रहें। स्वयं की पत्नी को मातृरूप से देखना – माँ के स्वरूप में उनकी षोडषोपचार से पूजा करना और पत्नी ने भी पति को ब्रह्मचर्य के लिये प्रेरित करना ऐसे उदाहरण भारत में ही प्राप्त होते है।